ब्रह्मवर्चस की पंचाग्नि विद्या

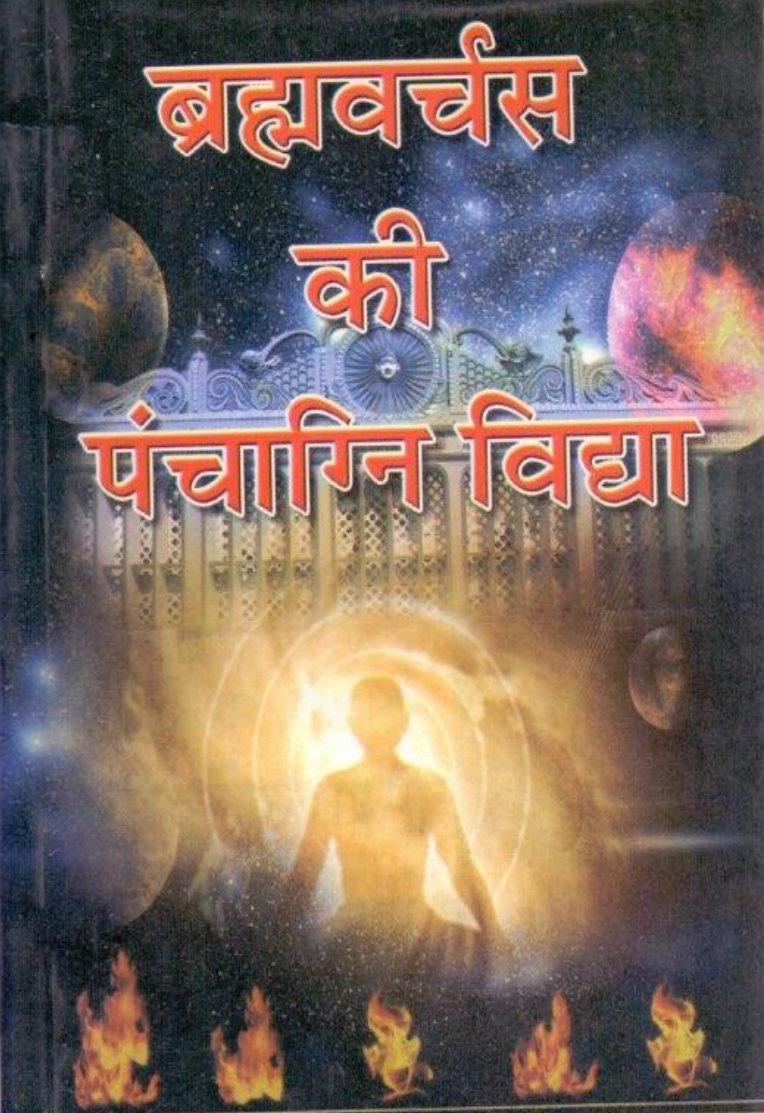

- पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

ब्रह्मवर्चस् की पंचाग्नि विद्या

लेखक :
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

२००८

मूल्य : रु० ००

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ संख्या
१. ब्रह्मवर्चस् उच्चस्तरीय गायत्री-साधना	४
२. उपयुक्त स्थल एवं वातावरण का महत्त्व	११
३. आत्म-शोधन के लिए तप-साधना अनिवार्य	१९
४. जीवन- साधना का मार्ग	२६
५. गायत्री अनुष्ठान का विज्ञान और विधान	३२
६. पाप-निवृत्ति और पुण्य-वृद्धि के लिए चान्द्रायण	४९
७. चांद्रायण व्रत की सौम्य साधना विधि	६९
८. ब्रह्मवर्चस् साधनाओं के योगाभ्यास	८०
९. उच्चस्तरीय साधना के दो सोपान—जप और ध्यान	८४
१०. जप की पूर्णता ध्यान-साधना में	१०५
११. त्राटक साधना से दिव्य चक्षुओं का जागरण	१२२
१२. अजपा गायत्री अर्थात् सोऽहं साधना	१३६
१३. ब्रह्मरंध्र की साधना खेचरी मुद्रा	१४७
१४. परम तेजस्वी शक्ति-संचार साधना	१५५
१५. कुछ सहयोगी साधनाएँ	१६२
१६. योग-साधना का संपुट-दैनिक अग्निहोत्र	१८४
१७. नित्यकर्म में धर्म-भावना का समावेश	१८८

प्राक्कथन

साधना के सिद्धांत को अत्युक्तिपूर्ण और अतिरंजित तभी कहा जा सकता है, जब उसमें से आत्म-परिष्कार के तथ्य को हटा दिया जाए और मात्र क्रिया-कृत्यों के सहारे चमत्कारी उपलब्धियों का सपना देखा जाए।

मानवी सत्ता में परमात्म सत्ता की सभी विशिष्टताएँ बीज रूप में विद्यमान हैं। इस अनुदान में स्रष्टा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र के प्रति अपने अनुग्रह का अंत कर दिया। इतने पर भी उसने इतना अंकुश रखा है कि पात्रता के अनुरूप उन विशिष्टताओं से लाभान्वित होने का अवसर मिले। जिस पात्रता का परिचय देने पर सिद्धियों का द्वार खुलता है वह और कुछ नहीं, जीवन परिष्कार के निमित्त प्रस्तुत की गई पुरुषार्थपरायणता भर है।

साधना विधानों में प्रयुक्त होने वाले क्रिया-कृत्य अगणित हैं। पर उन सबका मूल उद्देश्य एक है—जीवन के अंतरंग पक्ष को सुसंस्कृत और बहिरंग पक्ष को समुन्नत बनाना। जो साधना अपने विधि-विधानों के सहारे साधक को सुसंस्कारिता की दिशा में जितना अग्रसर कर पाती है, वह उतनी ही सफल होती है।

साधना विधानों को काया और आंतरिक उत्कृष्टता को आत्मा कहा जा सकता है। काया और आत्मा के सम्मिलित स्वरूप को ही जीवन कहते हैं। ऋद्धि-सिद्धियों से—विभूतियों और समृद्धियों से भरा-पूरा जीवन उपलब्ध करने के लिए ऐसी साधना की आवश्यकता है, जिसमें क्रिया-कृत्यों के साथ-साथ आत्मिक अनुशासन भी जुड़ा है। ब्रह्मवर्चस् साधना विधान में इन दोनों तथ्यों का समुचित समन्वय है, इसलिए उसकी सफलता भी सुनिश्चित है।

—श्रीराम शर्मा आचार्य

ब्रह्मवर्चस् उच्चस्तरीय गायत्री-साधना

गायत्री उपासना का उच्च स्तर 'ब्रह्मवर्चस्' कहलाता है। इसमें दो शब्द हैं—ब्रह्म + वर्चस्। ब्रह्म अर्थात् ब्रह्म विद्या, ब्रह्म-ज्ञान। वर्चस् अर्थात् तेजस्, ब्रह्मतेज। अत: ब्रह्मवर्चस् के दो पक्ष हुए—(१) ब्रह्म-विद्या अर्थात् दृष्टिकोण का, क्रिया-कलाप का परिष्कार एवं दर्शन-विज्ञान। (२) वर्चस् अर्थात् प्रसुप्त अंत:शक्तियों का जागरण, तेज-संवर्द्धन। इस प्रकार ब्रह्मवर्चस् उस समग्र अध्यात्म का समन्वय है, जिसमें आत्मानुभूति एवं आत्मिक प्रखरता दोनों का समुचित सुसंतुलित समावेश है।

गाड़ी की पूर्णता दो पहियों के मिलने से है। एक के रहने से वह अधूरी रहती है। एक हाथ, एक पैर से किसी प्रकार काम चल तो सकता है, किंतु उसमें सहज गतिमयता, प्रखरता और परिपूर्णता नहीं आ पाती। चिंतन तथा क्रिया दोनों का समन्वय ही समग्र अध्यात्म-साधना है। चिंतन की उत्कृष्टता ब्रह्मविद्या या अध्यात्म-तत्त्वज्ञान का ज्ञान पक्ष है। क्रिया की प्रखरता उसका विज्ञान पक्ष है। ज्ञान एवं कर्म का समन्वय ही ब्रह्मवर्चस् है। परिपोषण तथा उन्मूलन दोनों ही तथ्य इसमें समाविष्ट हैं। ईश्वर का अवतार दो प्रयोजनों के लिए होता है—धर्म की स्थापना और अधर्म का नाश ! पुण्य से प्रेम तथा पाप से घृणा की उभयपक्षीय प्रवृत्तियों का संतुलन बनाए रहने की प्रेरणा को ब्रह्मवर्चस् कह सकते हैं। सदाशयता के संवर्द्धन में उदारता और सहकारिता की नितांत आवश्यकता है। किंतु दुष्टता के प्रति यही नीति नहीं अपनाई जा सकती, अन्यथा सर्प को पालने, दूध पिलाने, आततायी को सहयोग देने या सहन करने की अतिवादी और भयपरक उदारता के अनर्थकारी दुष्परिणाम उत्पन्न होंगे। सज्जनता एवं सत्प्रवृत्तियों के प्रति उदार सहयोग तथा आंतरिक दोष-दुर्गुणों एवं समाजगत अनाचारों का उग्र प्रतिकार, दोनों ही आवश्यक हैं। असुरता और पाशविकता के तत्त्व अपने भीतर और इस संसार में कम नहीं। उनसे जूझने के लिए मात्र सदाशयता और सज्जनता अपर्याप्त है। उनके प्रति 'मन्यु'-सिद्धांतनिष्ठ आक्रोश

का उभरना आवश्यक है। रावण द्वारा मारे गए ऋषियों के अस्थिपंजरों के पहाड़ जैसे विशाल ढेर देखकर भगवान् राम ने ऐसे ही 'मन्यु' की अभिव्यक्ति की थी और भुजा उठाकर प्रण किया था—"निशिचर हीन करौं महि।" इसी प्रकार दुर्योधन पक्ष की दुर्नीति एवं दुराग्रह के दलन के लिए भगवान् कृष्ण को महाभारत रचना पड़ा था और सुदर्शन चक्र भी घुमाना पड़ा था। तेजस्विता तथा उदारता परस्पर संबद्ध रहनी चाहिए। पवित्रता एवं प्रखरता, दोनों ही समन्वित रहें, यही उचित है। ब्रह्मवर्चस् इसी समन्वयात्मक रीति-नीति एवं गतिविधि की प्रशिक्षण-प्रक्रिया को कहते हैं। इसे आगम एवं निगम, वेद पक्ष एवं तंत्र पक्ष दोनों का समन्वय कहा—समझा जाना चाहिए।

मानवीय चेतना में दैवी एवं आसुरी दोनों ही तत्त्व कार्यरत रहते हैं। दैवी अंश को सद्भावना और सज्जनता का खाद-पानी देकर बढ़ाया जाता है। आसुरी अंश का उन्मूलन करने की आवश्यकता पड़ती है। माली पौधों को सींचता है, तो साथ ही उनकी अनावश्यक, कुरूप टहनियों की काट-छाँट भी करता है और बगीचे में उगे हुए खरपतवार की सफाई करता है। किसान उपयोगी पशुओं को पालता है, साथ ही हानि पहुँचाने वाले जंगली जानवरों को भगाता भी है। अपने भीतर एवं अपने समाज के भीतर सत्प्रवृत्तियों, सद्भावनाओं का अभिवर्द्धन जितना आवश्यक है, दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन, प्रायश्चित्त एवं इष्टापूर्ति भी उतनी ही आवश्यक है। भक्ति एवं प्रायश्चित्त—दोनों ही उपासना के अंग हैं। श्रेष्ठता को प्रोत्साहन और निकृष्टता पर प्रतिबंध—दोनों ही आवश्यक हैं।

द्रोणाचार्य के कंधे पर धनुष, पीछे तरकश और हाथों में वेद देखकर किसी ने प्रश्न किया, "आचार्य प्रवर ! बाण और वेद एक साथ क्यों ?" द्रोणाचार्य ने उत्तर दिया—"अग्रतः चतुरो वेदाः पृष्ठतः सशरं धनुः। इदं ब्राह्मं, इदं क्षात्रं, शास्त्रादपि शरादपि।"

अर्थात्—"आगे हैं चारों वेद, तो पीछे धनुष-बाण। वेद ब्राह्मण धर्म है, तो धनुष-बाण, क्षात्र धर्म। शास्त्र एवं शस्त्र, दोनों ही के द्वारा सदाचरण का पथ प्रशस्त किया जाता है।" विद्या और बल, ज्ञान तथा भक्ति दोनों ही महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक हैं। यही प्राचीन

आर्ष-परंपरा रही है। श्रीराम को महर्षि विश्वामित्र ने दोनों ही प्रकार का शिक्षण दिया था। श्रीकृष्ण को भी संदीपनि के आश्रम में उभयपक्षीय शिक्षा प्रदान की गई थी। प्राचीन गुरुकुल-परंपरा में यह समन्वय सर्वत्र विद्यमान था। अध्यात्म-क्षेत्र में यही परंपरा भक्ति और कर्म का समन्वय करने वाले तत्त्वज्ञान की थी। अर्जुन और हनुमान् दोनों ही उत्कृष्ट भक्त थे, साथ ही दोनों को सदा सक्रिय जीवन जीना पड़ा। दोनों को ही भगवान द्वारा निरंतर कर्म की प्रेरणा एवं शिक्षा दी गई। आत्मोत्कर्ष और लोक-कल्याण की यही समन्वित व्यवस्था भारतीय अध्यात्म की आर्ष परंपरा है। ब्रह्मवर्चस् उसी परंपरा को गतिशील बनाने वाली प्रक्रिया है।

एकांगिता अपूर्ण ही नहीं, हानिकारक भी होती है। जिन दिनों भारत में उदारता, सहनशीलता और भक्तिभाव तक ही चिंतन को सीमाबद्ध किया गया और अहिंसा के अतिवाद में पराक्रम को ही अनावश्यक ठहराया गया, उन दिनों तेजस्विता-प्रखरता की उपेक्षा होती चली गई और मध्य एशिया से आए मुट्ठी भर आक्रामक इस विशाल देश को पराधीन बनाने में सफल होते चले गए। इसी प्रकार तेजस्विता का अभ्यास होने पर भी, उसके साथ में विवेक का मार्गदर्शन न होने पर एक समय, आक्रांताओं की कुटिल चालों के सामने तेजस्वी भारतीय योद्धा हारते चले गए। भक्ति एवं कर्म, भावना एवं तेजस्विता दोनों को समन्वित रखने वाला तत्त्वज्ञान ही भारतीय अध्यात्म विद्या का समग्र आधार रहा है। उसके स्थान पर एकांगिता अपनाने की भूल जब भी की गई है, तो दुर्गति का सामना करना पड़ा है। जबकि दोनों के समन्वय से सफलता और प्रगति का द्वार खुला है। गांधी जी के सत्याग्रह में सत्य और अहिंसा का जितना समावेश था, अनीति के निर्भीक प्रतिकार का उतना ही प्रखर संकल्प एवं साहस भी था। यह समन्वय ही ब्रह्मवर्चस् की साधना-प्रक्रिया का पथ है।

प्रज्ञा और पराक्रम का युग्म ब्रह्मवर्चस् की लक्ष्य-प्राप्ति में समर्थ बनता है। अध्यात्म-परंपरा में इन्हें ही ब्रह्मविद्या एवं ब्रह्माग्नि कहा गया है। पौराणिक गाथाओं में ब्रह्माजी की दो पत्नियाँ बताई गई

हैं—एक गायत्री, दूसरी सावित्री। गायत्री को ब्रह्मविद्या और सावित्री को ब्रह्माग्नि कहा गया है। ब्रह्माग्नि का अर्थ है आंतरिक-अग्नि, चेतना-ऊर्जा। गायत्री का ब्रह्मविद्या से शांति का, मोक्ष का द्वार खुलता है; सावित्री से सर्वतोमुखी समर्थता उत्पन्न होती है। दोनों ही परस्पर अविच्छिन्न हैं। सुसंस्कार और सत्सामर्थ्य दोनों ही परस्पर अन्योन्याश्रित कहे जा सकते हैं। इन दोनों का सम्मिलन ही प्रगति का पाथेय बनता है। प्रज्ञा की उदारता, पवित्रता, उत्कृष्टता से मिलने वाली उपलब्धियों को गायत्री-उपासना से प्राप्त अमृत, पारस और कल्पवृक्ष कहते हैं। प्रखरता, पराक्रम और पुरुषार्थ की उपलब्धियाँ ब्रह्मास्त्र, ब्रह्मदंड और ब्रह्मशाप के रूप में सामने आती हैं। गायत्री और सावित्री के रूप में दोनों के सम्मिलन का प्रतिपादन किया गया है। साधनाविज्ञान की भाषा में इसे योग और तप का समन्वय कहा जाता है। योग से आत्मा को देवात्मा-परमात्मा स्तर तक विकसित होने का अवसर प्राप्त होता है। तप से शक्ति उत्पन्न होती है। सशक्तता ही प्रगति, समृद्धि और विभूति के त्रिविध सत्परिणाम उत्पन्न करती है। साधना से मिलने वाली सिद्धियाँ शक्ति-संपादन का ही परिणाम है। योग एवं तप दोनों की समन्वित साधना-प्रक्रिया ब्रह्मवर्चस् का आधार है।

ब्रह्मज्ञान एवं ब्रह्मतेज—दोनों के समन्वय से ब्रह्मवर्चस्-साधना संपन्न होती है। यही हमारे महान् पूर्वजों द्वारा साधित एवं प्रतिपादित समग्र अध्यात्म है।

योग को आस्था पक्ष की, साधना एवं तप को क्रिया पक्ष की साधना समझा जा सकता है। आस्था पक्ष में चिंतन-क्षेत्र को प्रभावित करने वाले समस्त ज्ञान-विस्तार का समावेश होता है। वेद, शास्त्र, उपनिषद्, दर्शन, नीतिशास्त्र आदि के सृजन इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए हैं। मानवी चिंतन के परिष्कार की प्रक्रिया का महत्त्व ध्यान में रखकर ही पाठ, स्वाध्याय, सत्संग, चिंतन-मनन, कथा-प्रवचन, श्रवण आदि का माहात्म्य बतलाया जाता रहा है। यह सद्ज्ञान-साधना विकृत मनोवृत्तियों से मुक्त कराती और विवेकयुक्त दूरदर्शिता का पथ प्रशस्त करती है। यही पवित्रता की प्रक्रिया है। इसलिए

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।" वेदांत दर्शन में इसी ज्ञान-साधना का प्राधान्य है। भूमा, ऋतंभरा, प्रज्ञा जैसे नाम उसी परिष्कृत चिंतन को दिए गए हैं। उत्कृष्ट आदर्शवादी आस्थाओं के अनंत विस्तार से स्वयं को जोड़ना, अपने विचार-संस्थान में उनकी अनुभूति करना योग है। चित्तवृत्तियों का संशोधन ही योग कहा गया है। वह पशु-प्रवृत्तियों को देव-आस्थाओं में बदल देने वाले मानसिक उपचार का नाम है। यह साधना चिंतनपरक होती है। परिष्कृत चिंतन की परमोच्च अवस्था ही मुक्ति है। उस मनःस्थिति की सुखद, संतोषपूर्ण अनुभूति ही स्वर्गीय अनुभूति है।

क्रियापक्ष की साधना तप है। तप साधन है, साध्य है—ब्रह्मतेज, व्यक्तित्व की प्रखरता, आंतरिक शक्ति का अभ्युदय एवं विकास। इसके तीन भाग हैं—(१) आत्म-निग्रह, आत्म-नियंत्रण, (२) प्रसुप्त शक्तियों का जागरण, (३) उन शक्तियों को परमार्थ-प्रयोजनों में लगाने का उत्साह तथा अभ्यास। पहले वर्ग को तितिक्षा प्रधान तप, दूसरे को तप अनुष्ठान और तीसरे को तप-अनुदानों का विवेकसम्मत उदार वितरण कह सकते हैं। आत्म-निग्रह-आत्म-नियंत्रण में अस्वाद व्रत, उपवास, ब्रह्मचर्य, मौन, अपनी सेवा आप करना, सरदी-गरमी का ऋतु-प्रवाह सहना, सादगी, मितव्ययता, श्रमशीलता, समयबद्ध दिनचर्या आदि के द्वारा शरीर और मन की अवांछनीय आदतों को कड़ाई के साथ रोककर उन्हें दुरुस्त करना शामिल है। प्रसुप्त शक्तियों के जागरण के लिए जप, ध्यान, अनुष्ठान, पुरश्चरण, प्राणायाम, सोऽहं, खेचरी आदि मुद्राएँ, बँध, त्राटक आदि के विधि-विधान सहित तप किए जाते हैं। इनसे प्राप्त शक्तियों द्वारा लोकमंगल के कठिन मार्ग पर चलते हुए प्रचलित प्रवाह के विरुद्ध चलने पर मिलने वाले विरोध, उपहास, अपमान, प्रहार आदि कष्टों को धैर्यपूर्वक सहना तथा अनीति के विरुद्ध साहसपूर्वक संघर्षरत रहना, तीसरे प्रकार का तप है। अपनी सुविधाओं में कमी करने पर ही सेवा-सहायता सामूहिक सत्कर्मों में सहयोग तथा लोक-कल्याण के लिए अपने समय, श्रम एवं धन के

एक अंश का नियमित विनियोग संभव है। यह तीसरे वर्ग की तप-साधना है। तीनों ही प्रकार के तप से प्रसुप्ति से निवृत्ति होती है और अंतःऊर्जा प्रदीप्त होती है। मानवी सत्ता में सन्निहित शक्तियाँ तप-साधना की ऊष्मा से जाग्रत् होती हैं।

मनोनिग्रह एवं इंद्रियनिग्रह से शक्ति का क्षरण रुकता है। खुले मुँह की पतीली में खौलता हुआ पानी भाप बनकर ऊपर उड़ता रहता है। पर जब उसी को कड़े ढक्कन से बंद कर दिया जाए, तो वह संचित वाष्प-शक्ति अति प्रबल हो जाती है, पर साथ ही उस शक्ति का सदुपयोग जानना आवश्यक है। भाप से चलने वाले रेल-इंजन, वाष्प-शक्ति के इसी सदुपयोग का उदाहरण है। यदि वह शक्तियों ही संचित-भर की जाती रहे, तो वह भयंकर विस्फोट द्वारा अपने लिए मार्ग बनाती है। स्टोव और प्रेशर कुकर फटने से होने वाली दुर्घटनाएँ इसका उदाहरण हैं। इसीलिए मनोनिग्रह तप से उत्पन्न शक्ति का सदुपयोग करना भी साधना का ही अंग है। शरीरव्यापी ओजस् को निम्नगामी अधःपतन से रोककर ऊर्ध्वगामी बनाना और उसका उपयोग आत्म-चेतना की गतिशीलता में करना ब्रह्मचर्य-साधना है।

परंपरागत साधना विज्ञान में इसी विद्या को यम-नियम आदि के रूप में दर्शाया गया है। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि मनोनिग्रह एवं इंद्रियनिग्रह के विभिन्न पक्ष हैं।

धर्म ग्रंथों में उनका माहात्म्य सहित विस्तृत वर्णन मिलता है। तपाने से वस्तुएँ गरम होती हैं और उनका संशोधन होता है, दृढ़ता आती है तथा स्तर बढ़ता है। इसी प्रकार व्यक्ति भी तप-साधना से परिष्कृत होता और सुदृढ़ बनता है।

योग एवं तप, पवित्रता तथा प्रखरता, आस्था और क्रिया, ब्रह्मविद्या तथा ब्रह्मतेज की उभयपक्षीय ब्रह्मवर्चस्-साधना, गायत्री-सावित्री की समन्वित साधना का ही नाम है। दोनों का समन्वित स्वरूप ही गायत्री-तत्त्व का यथार्थ स्वरूप है।

गायत्री मंत्र में इन दोनों ही पक्षों का निर्देश है। 'धियः' शब्द ब्रह्मविद्या स्वरूप का संकेत करता है और 'भर्गः' में तेजस् का

प्रतिपादन है। शास्त्रों में गायत्री की ज्ञान-गरिमा के साथ-साथ उसके तेज पक्ष का भी उल्लेख है। देवी भागवत में कहा है—

"ब्रह्मत्वं चेदाप्तुकामोऽस्युपास्व,
गायत्रीं चेल्लोककामोऽन्यदेवम्।
बुद्धेः साक्षी बुद्धिगम्यो ज्यादौ,
गायत्र्यर्थः सोऽनघो वेदसारः।
तद् ब्रह्मैव ब्रह्मतोपासकस्याप्येवं,
मन्त्रः कोऽस्ति तन्त्रे पुराणे।"

अर्थात् ब्रह्मतेज प्राप्त करने की इच्छा हो, तो वेदमाता गायत्री की ही उपासना करनी चाहिए। अन्य कामनाएँ हों तो भले ही अन्य देवताओं को पूजो। साक्षी बुद्धि, आदि बुद्धि, ऋतंभरा प्रज्ञा का उदय इसी से यानी गायत्री उपासना से होता है। यह वेदों का सार है। पापों से निवृत्ति और पवित्रता की सिद्धि इसी से मिलती है। ब्रह्मतत्त्व की उपासना करने वाले के लिए यह साक्षात् ब्रह्म है। यही सर्वोपरि मंत्र है। ब्रह्मवर्चस्—

शतपथ ब्राह्मण (१।८।२।१५) में कहा है—

"यो वा अत्राग्निगायित्री स निदानेन।"

अर्थात् गायत्री को ही निदान यानी ब्रह्मज्ञान तथा अग्नि यानि ब्रह्मशक्ति का रूप समझना चाहिए।

छांदोग्योपनिषद् (३।१२।१) में गायत्री को ही सर्वव्यापी शक्ति कहा गया है—

"गायत्री वा इदं सर्वंयद्भूतं यदिदंकिञ्च।"

गायत्री के २४ अक्षरों में सन्निहित २४ शक्तियों को तप-साधना द्वारा उपार्जित किया जाता है। शास्त्र में ये शक्तियाँ इस प्रकार वर्णित हैं—

"ओजश्शक्तिबलप्रभावसुषमातेजस्सुवीर्यप्रभा।
ज्ञानैश्वर्यमहस्सहो जययशस्थैर्यप्रतिष्ठाश्रियः॥
विज्ञान प्रतिभामति स्मृतिधृति प्रज्ञाप्रथस्सुज्वलाः।
वर्णोस्त्वन्मानुसिरवभिरहो वर्ध्यन्तएवात्रमे॥"

अर्थात्—हे माता, ओज, शक्ति, बल, प्रभाव, कांति, तेज, पराक्रम, प्रकाश, ज्ञान, ऐश्वर्य, विकास, सहन-शक्ति, जय, यश, स्थैर्य, प्रतिष्ठा, लक्ष्मी, विज्ञान, प्रतिभा, मति, स्मृति, धृति, प्रज्ञा एवं ख्याति—ये चौबीस गुण तुम्हारे चौबीस वर्णों में विद्यमान हैं, मुझमें तुम्हारी साधना से अभिवृद्धि पा रहे हैं।

इन विवेचनों द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान और तेज, पवित्रता एवं प्रखरता, योग तथा तप दोनों पक्ष की समन्वित साधना ही गायत्री की समग्र साधना है। ब्रह्मवर्चस् में 'ब्रह्म' और 'वर्चस्' शब्दों के द्वारा अभिव्यंजित ये दोनों ही विद्यमान हैं। ब्रह्मविद्या के भी दो उपपक्ष हैं—ब्रह्मज्ञान एवं भक्ति—दोनों को मिलाकर आस्था पक्ष बनता है। सद्विचार तथा सद्भाव दोनों का युग्म ही सत्संस्कार का स्वरूप निर्धारित करता है। इसीलिए ब्रह्मवर्चस् की साधना में कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोग—तीनों का ही समन्वय रहता है। उत्कृष्ट वातावरण में की गई ये समन्वित साधनाएँ सुनिश्चित सत्परिणाम उत्पन्न करती हैं। ब्रह्मवर्चस् साधना में ही समग्र एवं उच्चस्तरीय साधना का विधि-विधान एवं क्रम बनाया जाता है। समय-समय पर साधना संबंधी समुचित मार्गदर्शन की व्यवस्था बनायी जाती है।

उपयुक्त स्थल एवं वातावरण का महत्त्व

साधना के संदर्भ में वातावरण की विशिष्टता का अपना स्थान है। वातावरण के प्रभाव की सशक्तता का परिचय देने वाले कितने ही विधेयात्मक एवं निषेधात्मक कथा-प्रसंग इतिहास में मिलते हैं।

महाभारत ग्रंथ में एक प्रसंग श्रवणकुमार से संबंधित है, जो वातावरण के प्रभाव को स्पष्ट करता है। अपने अंधे माता-पिता को तीर्थयात्रा हेतु कंधे पर काँवर में ले जा रहे श्रवणकुमार जब एक क्षेत्र विशेष से होकर निकले, तो सहसा उनके भीतर प्रतिकूल भावनाएँ उमड़ीं। उन्होंने काँवर जमीन पर रख दी और बोले—"आप दोनों

की आखिर आँखें ही तो बेकाम हैं। पैर तो भले चंगे हैं। अपने पैरों पर आप चलिए, रास्ता मैं बताता चलता हूँ।

इस अकस्मात् परिवर्तन से पहले तो वे वृद्धजन अचकचा गए। पर श्रवणकुमार के पिता ऋषि थे। अपनी अंतर्दृष्टि से वे जान गए कि पुत्र के स्वभाव में यह परिवर्तन वस्तुतः वातावरण की प्रतिक्रिया है। इसीलिए उन्होंने पुत्र के कथन से सहमति प्रकट की । पैदल चलने लगे और कहा कि इस क्षेत्र से यथाशीघ्र बाहर निकल चलना चाहिए।

जैसे ही उस क्षेत्र के बाहर निकले, श्रवणकुमार के मस्तिष्क से वातावरण का दबाव कम हो गया, तब उनकी आत्मग्लानि उमड़ पड़ी। वे फूट-फूटकर रोने लगे। अपने आदर्श-पथ से विचलित होने की ग्लानि उन्हें कष्ट देने लगी। माता-पिता से उन्होंने पुनः सविनय आग्रह किया, "काँवर पर ही बैठें, मैं कंधे पर ले चलूँगा।" तब श्रवणकुमार के पिता ने बताया—"बेटे, बहुत समय पहले इस क्षेत्र में 'मय' नामक नृशंस दानव रहता था। उसने अपने माता-पिता को ही मार डाला था। उसी की दुष्टता का दुष्प्रभाव इस वातावरण में विद्यमान है। तुम्हारे मन में उसी वातावरण ने विद्रोह का भाव भड़काया। अब जब वह वातावरण पीछे छूट गया, तो वह प्रभाव भी जाता रहा और तुम्हारी सहज स्वाभाविक बुद्धि वापस लौट आई। ये कथा-प्रसंग वातावरण के प्रभाव को स्पष्ट करते हैं।

पदार्थ और प्राणियों पर वातावरण का प्रभाव प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण से भी प्रमाणित होता है। ठंडे देशों के निवासी गोरे और गरम देशों के काले पाये जाते हैं। एक ही जड़ी-बूटी क्षेत्र की भिन्नता से भिन्न गुण वाली हो जाती हैं। जैसे—ब्राह्मी बूटी हिमालय क्षेत्र में गंगातट पर उगने पर भिन्न गुणों वाली होती है और मैदानी क्षेत्रों में नहर के किनारे उगने पर भिन्न गुणों वाली। यही बात अन्य अनेक जड़ी-बूटियों के बारे में है। इतना ही नहीं, नक्षत्र-विशेष में पर्यावरण में जो सूक्ष्म उथल-पुथल होती है, उससे भी जड़ी-बूटियों की सूक्ष्म शक्ति में गुणात्मक परिवर्तन आते हैं। आयुर्वेद में इसीलिए अनेक जड़ी-बूटियों को प्राप्त करने तथा प्रयोग करने के संदर्भ में ऋतु, तिथि,

नक्षत्रा आदि का भी निर्देश है। कश्मीरी सेब विश्वविख्यात हैं। मैसूर के वनों में उगे चंदन वृक्षों की सुगंध विशिष्ट होती है। भुसावल क्षेत्र के केले, नागपुर क्षेत्र के संतरे, लखनऊ क्षेत्र के आम आदि अपनी-अपनी विशेषताओं के लिए विख्यात हैं। उन्हीं बीजों-पौधों को अन्यत्र बोया-उगाया जाए, तो वे बढ़ेंगे-फलेंगे अवश्य, किंतु उनमें वैसी विशेषताएँ न होंगी। अन्न-शाक के गुण और स्वभाव में भी इसी आधार पर भारी अंतर पाया जाता है। पंजाब का गेहूँ अन्य स्थानों की तुलना में अधिक इसीलिए होता है कि वहाँ की भूमि और जलवायु उसके उपयुक्त है। पशुओं में भी इसी प्रकार का अंतर देखने में आता है। कच्छ, हरियाणा, नागौर आदि क्षेत्रों के गाय, बैल अधिक दुधारू और अधिक परिश्रमी होते हैं। इसमें भी नसल से अधिक प्रभाव जलवायु का ही रहता है। स्थान बदल देने से नसल में भी अंतर पड़ने लगता है। विदेशों से मँगाए गए पशु अपने देश से दूर रहने के उपरांत उन विशेषताओं को खोते चले जाते हैं, जो उनके मूल स्थान में रहने पर उनमें थीं। ठंडे देशों के रीछ, कुत्ते, हिरन आदि गर्म क्षेत्रों के चिड़ियाघरों में रखे गये, तो देखा गया कि वे कठिनाई से ही जी पाते हैं, वो भी वैसे ही ठंडे वातावरण की व्यवस्था करने पर। ये सब तथ्य वातावरण की अपनी विशेषता पर प्रकाश डालते हैं।

समर्थ अध्यात्म-साधना के लिए भी अनुकूल वातावरण की आवश्यकता पड़ती है। वानप्रस्थ आश्रम में इसीलिए वातावरण परिवर्तन पर जोर दिया गया है।

इस गए-गुजरे जमाने में भी इस क्षेत्र में कुछ विशेषताएँ देखी-पाई जाती हैं। तीर्थयात्रियों-पर्यटकों की भीड़-भाड़ के साथ अवांछनीय तत्त्वों की घुसपैठ के बावजूद इस क्षेत्र में आज भी देश के अन्य हिस्सों की अपेक्षा ईमानदारी, सदाशयता, सद्भावना और सज्जनता की सत्प्रवृत्तियाँ अधिक सघनता से विद्यमान हैं। पैदल यात्रियों का बोझ ढोने वाले पहाड़ी कुली प्रायः छल या विश्वासघात करते नहीं देखे जाते।

ये कुछ विशिष्ट उदाहरण हैं, जो हिमालय क्षेत्र की आध्यात्मिक विशेषताओं का संकेत करने में समर्थ हैं। हिमालय पिता की पुण्य छाया अनादि काल से अध्यात्म साधकों का प्रिय क्षेत्र रही है और विशिष्ट साधनाओं के निमित्त प्रायः सभी साधक महापुरुष कुछ अवधि के लिए इस वरदानी महिमामयी छाया में आते और कृतकृत्य होकर लौटते रहते हैं। अवतारी पुरुषों—राम, कृष्ण, परशुराम आदि के साधना स्थल इसी क्षेत्र में हैं। ऋषियों का तो यह सनातन निवास है। अंतरराष्ट्रीय धार्मिक संगठन थियोसॉफिकल सोसाइटी वाले भी ऋषियों (मास्टर्स) का स्थान इसी क्षेत्र को मानते हैं।

गंगा माँ की गोद भी साधकों के लिए आकर्षण और आस्था का केंद्र रही है। पौराणिक मान्यता के अनुसार भगीरथ ने प्रचंड तप करके गंगा को इस हेतु सहमत किया कि वे स्वर्ग से उतरकर धरती पर प्रवाहित हों। तब तक इसका लाभ मात्र देवलोक निवासी ही उठाते थे। पुराण के अनुसार गंगा, विष्णु के चरणों से निकलीं। स्वर्ग से धरती पर उतारते समय उनका प्रचंड वेग कौन, कैसे धारण करे, यह विकट प्रश्न था। भगवान् शिव ने अपनी जटाओं पर उतरने का अवसर देकर उसे सहज संभव बनाया। इस प्रकार विष्णु के चरणों और शिव की जटाओं से गंगा का प्रवाह जुड़े होने के कारण धार्मिक दृष्टिकोण से उसका बहुत अधिक महत्त्व है। गंगाजल को विष्णु का चरणामृत कहा जाता है।

गंगा को हिमालय का अमृत-रस भी कह सकते हैं। रासायनिक विशेषताओं वाले इस क्षेत्र का सारतत्त्व गंगाजल में घुल-मिलकर प्रवाहित होता है। ब्राह्मी, अष्टवर्ग, रत्नज्योति जैसी जड़ी-बूटियाँ और शिलाजीत जैसे खनिज जो इस क्षेत्र में होते हैं, उनकी अपनी ऐसी विशेषताएँ होती हैं, जो अन्य क्षेत्रों में उनमें नहीं पायी जातीं। ये विशेषताएँ जल-स्रोतों के साथ घुलकर गंगा में जा पहुँचती हैं। लगभग ५०० मील तक हिमालयी क्षेत्र में ही परिभ्रमण करने के उपरांत ही गंगा मैदानी भूमि में आती है। उसी बीच हिमालय क्षेत्र की लगभग तीस नदियाँ दूर-दूर से बहती आकर गंगा में विसर्जित होती चलती हैं। इस प्रक्रिया में हिमालय के

अतिमहत्त्वपूर्ण क्षेत्र का रासायनिक सारतत्त्व गंगा-प्रवाह में सम्मिलित होता रहता है और इस प्रकार आरोग्यशास्त्र की दृष्टि से गंगाजल किसी बहुमूल्य ओषधि-द्रव की ही तरह हो जाता है।

किंतु गंगा की विशेषता शारीरिक आरोग्य से भी अधिक उसकी आध्यात्मिक स्वास्थ्य-संवर्द्धन की सामर्थ्य है। मानवी सत्ता ही नहीं, पदार्थ-सत्ता के भी तीन स्तर होते हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। प्रत्यक्ष दृश्य को स्थूल कहते हैं। सूक्ष्म स्तर अदृश्य प्रभाव को कहते हैं। कारण स्तर वह है, जिसे स्थूल और सूक्ष्म की गहन अंतरात्मा कहा जा सकता है। जिस प्रकार मनुष्य में प्रत्यक्ष शरीर को स्थूल, मनःचेतना को सूक्ष्म और अंतरात्मा को कारण शरीर कहा जाता है। पदार्थों में भी यही तीन स्तर होते हैं। जैसे तुलसी का सूक्ष्म स्वरूप है उसका रासायनिक ओषधि रूप। उसका सूक्ष्म प्रभाव शांतिदायक होता है। जबकि तुलसी का कारण-स्तर मानवी अंतःकरण में भक्ति-भावना, श्रद्धा-पवित्रता के संचार में समर्थ होता है, इसीलिए उसे देवोपम कहा गया। इसी प्रकार वट, पीपल, आँवला जैसे वृक्षों में भी ऐसी ही कुछ दिव्य विशेषताएँ होती हैं, अतएव सूक्ष्मदर्शियों ने उन्हें वृक्ष वर्ग के देव कहा है। पशु वर्ग में गौ को माता की मान्यता भी सूक्ष्म एवं कारण स्तरीय प्रभावों को देखकर ही प्रदान की गई है, अन्यथा दूध का लाभ तो दूसरे पशु भी दे सकते हैं। गंगाजल की विशेषता में भी कारण स्तरीय दिव्यता ही प्रधान है। उसमें स्नान करने से अंतःकरण में पवित्रता का संचार होता है, यही महत्त्वपूर्ण विशिष्टता है। इसी हेतु से असंख्य भावनाशील नर-नारी उसमें स्नान के लिए दौड़े आते हैं और नहाकर अपनी धर्म-भावना तृप्त करते हैं। यद्यपि इन दिनों गटरों का गंदा पानी और शहरी कोलाहल के प्रदूषण से गंगा के कारण स्तरीय प्रभाव में कुछ कमी आ गई है। तो भी उसकी पवित्रता अभी जहाँ भी विद्यमान है, वहाँ उसके तट पर कुछ समय निवास करने पर आंतरिक शांति का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है।

गंगा भारत-भूमि की सर्वप्रधान पयस्विनी है। कोटि-कोटि भारतीय जन उसके धार्मिक-आध्यात्मिक महत्त्व पर विश्वास करते

हैं। उसके संपर्क-सान्निध्य से शांति प्राप्त करते हैं और प्रेरणा ग्रहण करते हैं। हिंदू धर्मावलंबियों ने ही नहीं, अन्य धर्मावलंबियों ने भी उसकी विशेषताओं को समझा और स्वीकारा है। इब्नबतूता एक प्रसिद्ध पर्यटक-लेखक रहा है। उसके यात्रा-संस्मरणों का गिब्स ने अँग्रेजी में अनुवाद किया है। उसमें यह उल्लेख भी है कि तत्कालीन शासक मुहम्मद तुगलक गंगाजल पीते थे और उनके लिए दौलताबाद गंगाजल पहुँचाया जाता था, जिसमें ४० दिन लग जाते थे।

अबुलफजल कृत 'आइने अकबरी' के अनुसार अकबर को गंगाजल बहुत पसंद था। उसे नित्य गंगाजल मिल सके, इस हेतु २० व्यक्तियों का एक दल नियुक्त था। जब वे पंजाब में रहते थे, तो हरिद्वार से गंगाजल मँगाया जाता था और जब आगरा या फतेहपुर सीकरी में रहते थे, तब सोरों से। पंद्रहवीं शताब्दी के फ्रेंच यात्री वर्नियर ने औरंगजेब तथा दाराशिकोह दोनों के गंगाजल प्रेम का उल्लेख किया है। औरंगजेब के अनेक दरबारी भी गंगाजल का सेवन करते थे। ब्रिटिश कप्तान एडवर्ड मूर ने अपने संस्मरणों में कुछ मुसलिम नवाबों द्वारा गंगाजल पीने की बात लिखी है।

अँग्रेज वैज्ञानिक हैंकिंस ने ब्रिटिश शासन की अवधि में गंगाजल पर शोध किया था। उसने देखा कि काशी के गंदे नालों का जल, जिसमें हैजे के असंख्य कीटाणु भरे थे, गंगा में मिलने पर उसके विषाणु तुरंत मर गए। मुरदों की सड़नशील लाश का विषाक्त प्रभाव भी गंगा में समाप्त हो गया।

रसायनविज्ञानी प्रो० एन० एन० गोडबोले ने गंगाजल की रासायनिक जाँच की और पाया कि प्रयाग तक के गंगाजल में 'प्रोटेक्टिव कोलाइड' होते हैं, जो रोगाणुओं का विनाश करते हैं। आगे उसके गुण घटते जाते हैं, क्योंकि आगे उसमें अनेक गंदे नाले व दूसरी बड़ी-बड़ी नदियाँ मिलती हैं। फ्रेंच वैज्ञानिक डी० हेरेल, जर्मन वैज्ञानिक जे० अलिवर आदि ने जाँच के बाद एक स्वर से गंगाजल को रोगाणुनाशक एवं विशेष स्फूर्तिप्रद पाया।

ब्रह्मवर्चस् साधना के समय गंगास्नान एवं गंगाजल पान से शारीरिक आरोग्य, मानसिक स्फूर्ति एवं भावनात्मक शांति की प्राप्ति स्वाभाविक ही है। माँ गंगा की गोद भावनाशील लोगों को भावभरी आनंदानुभूति प्रदान करती है। सूक्ष्म-द्रष्टाओं के अनुसार गंगा प्रवाहमान देवसत्ता है। हरिद्वार तक की गंगा के तट में, इस हिमालयी क्षेत्र में हजारों वर्षों तक तप-परंपरा को बनाए रखने वाले योगियों-ऋषियों-महात्माओं की प्रज्ञा के संस्कार-प्रभावों का साधक स्पष्ट अनुभव करते हैं। भगवान राम, लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्न अंतिम दिनों के लिए इसी क्षेत्र में आए थे। सप्त ऋषियों ने हिमालय की छाया और गंगा की गोद में ही अपनी तपस्थली बनाई थी। ब्रह्मवर्चस् साधना के लिए गंगा माँ की गोद, हिमालय पिता की छाया, सप्तऋषियों की सुसंस्कारित तपोभूमि—ये ऐसी विशेषताएँ हैं, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। इसके साथ ही युगनिर्माण अभियान के सूत्र-संचालक का दिव्य संरक्षण तो एक ऐसी विशिष्टता है, जो अनुपम ही है। इस दिव्य वातावरण-संस्कारवान् भूमि में साधकों को दिव्य संरक्षण, मार्गदर्शन, प्रकाश और अनुदान की जो व्यवस्था सुलभ होती है, वह ब्रह्मवर्चस् की उच्चस्तरीय गायत्री-साधना में उनके लिए श्रेष्ठतम सहायक सिद्ध होती है।

ब्रह्मवर्चस् साधना में ब्रह्मविद्या एवं ब्रह्मतेज दोनों की ही उपासना-साधना सम्मिलित है। चेतन ब्रह्मतेज सविता और उसकी शक्ति—ब्रह्मशक्ति-सावित्री दोनों की उपासना साधक को शक्तिसंपन्न, तेजस्वी, ज्ञानवान्, सद्बुद्धिसंपन्न, ऋतंभरा प्रज्ञायुक्त, विवेकशील, दूरद्रष्टा और महान् बनाती है। इस साधना-प्रक्रिया में धुलाई और रँगाई के क्रमिक सोपान समाहित हैं। आत्मिक प्रगति के मार्ग में बाधक संचित कुसंस्कारों का प्रायश्चित्त-परिशोधन, कषाय-कल्मषों की धुलाई, इस साधना का स्वाभाविक ही अनिवार्य अंग है। आहार-विहार संबंधी संयम और तप-तितिक्षा द्वारा साधक के व्यक्तित्व को दिव्य अवतरण का दबाव सँभाल सकने योग्य बनाया जाता है। इसीलिए उससे संबंधित समस्त मर्यादाओं का

साधक के द्वारा निष्ठापूर्वक निर्वाह आवश्यक है। उसके बिना तो साधक में सिद्धियों की पात्रता ही उत्पन्न न हो सकेगी।

उपवास, ब्रह्मचर्य, स्वयंसेवा, मौन और शारीरिक तितिक्षा के नियम-निर्देशों को स्वयं पर कठोरता से लागू करना साधना-पथ पर अग्रसर होने की आरंभिक आवश्यकता है। पाप-स्वीकृति, पश्चात्ताप-प्रायश्चित्त एवं इष्टापूर्ति की चांद्रायण तप-प्रक्रिया के आत्म-परिशोधन का कार्य संपन्न होता है। तप-तितिक्षा का अभ्यास सुदृढ़ता एवं सत्पात्रता उत्पन्न करता है। इसके आगे है योगाभ्यास-साधना, जो साधक के व्यक्तित्व के विस्तार, सामर्थ्य एवं स्तर में वृद्धि करती है और उसे परमात्म सत्ता से जोड़ने की प्रक्रिया सिद्ध होती है। पंचमुखी गायत्री की पंचकोशी साधना पाँचों कोशों का अनावरण करने में समर्थ है। उससे रहस्यमय रत्न-भंडार, सिद्धियों-विभूतियों का अक्षय कोष करने की चाबी हाथ लगती है।

शरीर में संव्याप्त प्राण-ऊर्जा को तपश्चर्या परिष्कृत करती है। मनःक्षेत्र की चिंतन-चेतना को उच्चतम शक्ति-स्रोत एवं आस्था-केंद्र से जोड़ने का कार्य योग-साधना द्वारा संपन्न होता है।

गायत्री-जप, ध्यान, सोऽहं साधना, त्राटक, खेचरी मुद्रा एवं शक्ति-संचालन की योग-साधनाएँ साधक को दैवी सिद्धियाँ, दिव्य अनुभूतियों की सामर्थ्य प्रदान करती हैं। उसके साथ ही स्नान-भोजन, सूर्योपासना, दीप स्तुति, शयन एवं जागरण जैसे नित्यकर्मों में आत्मबोध-तत्त्वबोध आदि की धर्म-भावनाएँ साधक के भावनात्मक अंतःक्षेत्र को परिष्कृत, उदात्त, कोमल और अनुभूति क्षम बनाती हैं। यज्ञ-कर्म इन सब व्यक्तिगत एवं सामूहिक पुरुषार्थों की समन्वित अभिव्यक्ति है। इन समस्त विधि-विधानों का समावेश साधक अपनी दिनचर्या में किस स्तर पर, किस-किस रूप में करेगा—यह निर्धारण-निर्देशन प्रत्येक साधक की स्थिति के अनुरूप किया जाता है। इस प्रकार साधकों के पुरुषार्थ, वातावरण की सुसंस्कारिता, साधना-प्रक्रिया की समग्रता तथा दिव्य संरक्षण, मार्गदर्शन एवं प्रकाश, अनुदान द्वारा ब्रह्मवर्चस् साधना-प्रक्रिया प्रचंड अध्यात्म-ऊर्जा को प्रकट करने में समर्थ है और इस अध्यात्म ऊर्जा को विकसित

करने के लिए अपने कषाय-कल्मषों के निष्कासन की आवश्यकता पड़ती है, ताकि विकारों के कारण अवरुद्ध हुई आत्मिक-ऊर्जा, विकारों को नष्ट होने पर तीव्र गति से उद्‌बुध हो सके। इस अध्यात्म ऊर्जा-ब्रह्मवर्चस् की प्राप्ति के लिए तप-साधन की आवश्यकता पड़ती है। इसका समुचित विधान और मार्गदर्शन की व्यवस्था ब्रह्मवर्चस् साधना सत्रों में रखी गई है।

आत्म-शोधन के लिए तप-साधना अनिवार्य

आग की भट्‌ठी में झोंके बिना सोना कुंदन नहीं बन सकता? फौलादी मशीनें और उपकरण लोहे को गलाए और तपाए बिना बन ही नहीं सकते। कच्चा अन्न खा लेने से दस्त प्रारंभ हो जाते हैं, उसके उपयोगी बनने से पूर्व आग के सान्निध्य में जाना आवश्यक होता है। ईंट बनने का गौरव मिट्टी को तब मिलता हैं जब वह पकने के लिए भट्‌ठे में घुसने के लिए तैयार होती है। सामान्य वस्तु को असामान्य बनने का गौरव तब मिल पाता है, जब वह अपने भीतर कषाय-कल्मषों को जला डालने और अपने भीतर की महानता को जाग्रत् होने का अवसर देती है। इससे कम में आज तक कोई भी अच्छी वस्तु नहीं बन पाई।

ब्रह्मवर्चस् की प्राप्ति जीवन की असाधारण प्रक्रिया, अद्वितीय पराक्रम और अद्‌भुत सौभाग्य की वस्तु मानी गई है, किंतु यह तभी संभव है, जब आत्मा के ऊपर चढ़े हुए पापों की कालिमा को पूरी तरह धोया और माँजा ही न जाए, अपितु उसे उसी तरह चमकाया जाए जिस तरह जूँठे बरतनों को स्वच्छ बनाने के लिए उन्हें मिट्‌टी, रेत और बालू की रगड़ का सामना करना पड़ता है। इसी प्रक्रिया को तप और साधना कहते हैं। साधना में जप, उपासना, ध्यान और प्राणायाम आदि ही नहीं आते, अपितु वह समस्त तितिक्षाएँ भी आती हैं जो अपनी बुराइयाँ आप स्वीकार कर, उनके दंड को स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करना होता है। शरीर के पाप वस्तुतः मन में छिपी वासनाएँ,

कुत्साएँ और बुरे विचारों का प्रतिफल मात्र होते हैं। मन बड़ा हठधर्मी और स्वेच्छाचारी प्रकृति का तत्त्व है, उसे नियंत्रण में लाने के लिए शरीर को कष्ट देने से लेकर उसकी सुविधाएँ, सुख और अनुकूलताएँ काट देने तक की तितिक्षाएँ करनी पड़ती हैं। जन्म-जन्मांतरों का स्वभाव गंदी नाली में बह रहे पानी के नीचे की प्राणघातक बदबू की तरह दबा होता है। नाली की सफाई के समय यह दुर्गंध इतनी उग्र होती है कि पास खड़ा रहना भी कठिन होता है। यही स्थिति मन को स्वच्छ बनाने की भी है, उसकी पिटाई शुरू की और उसने विग्रह खड़ा किया, इस विग्रह को जीत पाना दुःसाध्य नहीं, तो कठिन अवश्य होता है, पर उसे अपनाये बिना किसी का आत्मशोधन नहीं हो सकता। आत्मशोधन ब्रह्मवर्चस् की पहली शर्त है, अतएव आत्म-साधना के प्रत्येक साधक को तप से गुजरना प्रत्येक स्थिति में अनिवार्य होता है।

मात्र छिटपुट पूजा-पत्री से दैवी अनुग्रह प्राप्त करने की मान्यता बाल-बुद्धि की ही उपज है। पूजा विधान को बीज बोने के समतुल्य माना जा सकता है, पर उतने भर से तो फसल कटकर घर में नहीं जाती। भूमि की तैयारी, खाद, पानी, निराई, गुड़ाई, रखवाली तथा कठोर परिश्रम लगातार कई महीनों करने के उपरांत बीच के अंकुरित होने से लेकर फलित होने तक की प्रक्रिया पूरी होती है। विधि-विधान जान लेने पर उसकी चिह्न पूजा कर लेने पर भी न तो किसी को दैवी अनुग्रह मिल सका है और न सिद्धियाँ-विभूतियाँ करतलगत हुई हैं, जिनको साधनाशास्त्र में उपासना के सत्परिणामों में गिनाया गया है। मात्र कलम और स्याही से ही अमर साहित्य लिखने का कार्य पूरा नहीं होता, उसके लिए लेखक को ज्ञान-संवर्द्धन की साधना भी करनी पड़ती है। मूर्तिकार मात्र छैनी, हथौड़े से ही पत्थर की प्रतिमा नहीं बना देता, उसे देर तक मूर्ति कला की साधना भी करनी पड़ती है। वाद्य-यंत्र अपने आप ही तो नहीं बजने लगते, उनके खरीद लेने से ही तो काम नहीं चल जाता। वादक को बजाने की प्रवीणता भी तो प्राप्त करनी पड़ती है। उपासना के विधि-विधानों की आवश्यकता एवं उपयोगिता असंदिग्ध है, उनका परित्याग करने से

काम नहीं चल सकता। कलम, स्याही—छैनी, हथौड़ा, वाद्य यंत्र त्यागकर लेखक-मूर्तिकार-वादक, अपनी प्रखरता प्रदर्शित नहीं कर सकते। इसी प्रकार उपासना के विधि-विधानों का अपना स्थान और महत्त्व है। फिर भी इस तथ्य की उपेक्षा न की जाए कि उनके साथ जिन माहात्म्यों का, सत्परिणामों का, उपलब्धियों का, सिद्धियों का वर्णन है उन्हें प्राप्त करने के लिए साधक का व्यक्तित्व निखरना ही चाहिए। यह आवश्यकता शरीर को तप से तपाने और मन को योग से परिष्कृत करने पर ही पूरी होती है। सोने का खरापन कसौटी पर कसने और आग पर तपाने से ही प्रमाणित होता है। साधक का ऐसा व्यक्तित्व जिस पर दैवी अनुग्रह अवतरित हो सके, योग और साधना के सहारे ही विनिर्मित होता है।

प्राचीनकाल की आत्मिक प्रगति का इतिहास तप-साधना से भरा हुआ है। प्रतिभाओं और विभूतियों के धनी ऋषियों की महान् उपलब्धियाँ तपश्चर्या का मार्ग अपनाने पर ही संभव हुई थीं। यदि उनने कष्टसाध्य आत्म-परिष्कार न किया होता और केवल सरल-सस्ती पूजा-पत्री तक सीमित रह गये होते, तो संभवतः उनके पल्ले कुछ भी न पड़ता। दैवी अनुग्रह आकर्षित करने के लिए याचना का अनुरोध ही पर्याप्त नहीं है। देव शक्तियों को प्रभावित और आकर्षित करने के लिए साधक को वैसा चुंबकत्व प्राप्त होना चाहिए, जैसे वृक्षों में बादलों के पकड़ने और बरसने के लिए विवश कर सकने का होता है। मात्र याचना की दुर्बल वाणी दैवी शक्तियों को प्रभावित कहाँ कर पाती है।

ब्रह्मा जी ने सृष्टि तप के बल पर रची, शेषजी पृथ्वी का भार तप की शक्ति से ही उठा पाते हैं, सूर्य तप के तेज से प्रकाशवान् है। इन प्रतिपादनों पर संदेह हो, तो भी अध्यात्म शक्तिसंपन्न ऋषियों और महामानवों की विशेषताओं का उनकी तप-साधना के साथ ही जुड़ा हुआ देखा जा सकता है। अन्यान्य महामानवों ने अपने-अपने ढंग की तपस्या की है और मानवता के उच्च शिखर पर पहुँचे हैं। सप्त ऋषियों ने तप के सहारे ही विश्व-व्यवस्था का उत्तरदायित्व वहन किया था और वे अभी भी प्रकाश में उदीयमान हैं। असुरता

के ध्वंस का अमोघ अस्त्र ब्रह्मास्त्र महर्षि दधीचि की अस्थियों से ही बना था। वज्र बनाने के लिए इससे अधिक उपयुक्त धातु संसार में अन्य कहीं थी ही नहीं। भौतिक समृद्धि और आत्मिक शक्ति देने वाली भगवती का अवतरण भगीरथ की तप-साधना से ही संभव हुआ। इससे कम में गंगा को स्वर्ग से धरती पर लाने वाला अनुरोध काम कर ही नहीं सकता था। आकाशस्थ ध्रुव की परिक्रमा अभी भी असंख्यों ग्रह-नक्षत्र निरंतर करते हैं। इतना गौरव तप-साधना के बिना अन्य किसी उपाय से उपलब्ध हो नहीं सकता था। दैव पक्ष के लोगों ने आत्मिक और दैत्य वर्ग के लोगों ने भौतिक बल प्राप्त करने में तप-साधना का ही समान रूप से अवलंबन किया है। आग पर तपाने से, भोजन निर्माण से लेकर धातुओं को ढालने एवं रसायानें बनाने जैसे असंख्य आश्चर्यजनक कार्य पूरे होते हैं। जीवन को तपाने से उसमें वे विशेषताएँ उत्पन्न की जा सकती हैं, जिसके सहारे सामान्य को असामान्य, तुच्छ को महान्, अणु को विभु, मनुष्य को देवता और आत्मा को परमात्मा बनाने का अवसर मिल सके।

तप-साधना चेतन क्षेत्र का एक ऐसा व्यवसाय है, जिसमें पुरुषार्थ की तुलना में लाभ अत्यधिक है। नौकरी करने वालों को नियमित वेतन मिल सकता है, पर बड़ी मात्रा में खाद्यान्न उत्पन्न करने के लिए कृषक जैसी साधना करनी पड़ती है। ब्रह्मवर्चस् की साधना अपेक्षाकृत इस तरह के भौतिक पूँजीगत या अनुभवों के आधार पर चलने वाले उद्यमों की अपेक्षा अधिक सरल है और लाभप्रद भी। उसमें न तो बाह्य परिस्थितियों की आवश्यकता होती है न साधन जुटाने पड़ते हैं, केवल मात्र अंतःक्षेत्र की उलट-पलट करनी होती है। दूसरों का सहयोग-समर्थन ढूँढ़ने की अपेक्षा आत्मस्वीकृति और अपने ही समर्थन की आशा होती है। शब्दों में ही नहीं, यह क्रिया और साधना में भी सरल ही है, क्योंकि यही जीवन की स्वभाविकता भी है। यह अभ्यास प्रारंभ करते ही मिलने वाली आत्मिक शांति, दिव्य अनुभूतियाँ ऐसी हैं, जिनसे साधक को तत्काल आत्म-संतोष मिलता है। किंतु अब तक चल रहे सुविधायुक्त इंद्रियवर्ती जीवन के सहज प्रवाह को मोड़कर उसे अंतःवर्ती बनाने का कार्य उतना ही

कठिन भी है। साधना को 'समर' अर्थात् युद्ध कहा जाता है। इसमें अपनें ही भीतर पले हुए अपनें ही शत्रु मनोविकार बार-बार भौतिक सुखों के सब्जबाग दिखाते और पतन की ओर बढ़ने का लालच दिखाते रहते हैं, इन आंतरिक शत्रुओं से जूझना वस्तुतः किसी भी महाभारत से कम नहीं होता। उनसे विजय पाने वाले ही अर्जुन की तरह यश, श्रेय, सम्मान और ब्रह्मवर्चस् के अधिकारी हो पाते हैं। ऐसे ही शूरवीरों के जीवन-रथ की बागडोर सँभालने के लिए स्वयं भगवान् को समुद्यत होना पड़ता है। ब्रह्मवर्चस् वस्तुतः इसी उपलब्धि का नाम है।

ब्रह्मवर्चस् सत्र की अवधिकाल में ही यह परिवर्तन हो जायेगा, ऐसा नहीं समझा जाना चाहिए। यहाँ उसके दोनों पक्षों (१) उपासनापरक (२) जीवन-व्यवहार पक्ष दोनों की इतनी जानकारी, इतना अभ्यास करा दिया जाता है, जिससे भविष्य में कहीं भी रहकर आत्मोन्नति के इस महान् प्रयोजन को सामान्य जीवन जीते हुए पूरा किया जा सकता है। यहाँ के प्रशिक्षण को बीजारोपण की संज्ञा दी जा सकती है। उपयुक्त ऋतु में समुचित संस्कार के साथ डाले गये बीज ही अच्छी पौध बनाते और फूल देते हैं, चाहे जिस ऋतु में, चाहे जिस मिट्टी में जो चाहे बीज बो देने से कितनी निराशा होती है, इसे हर किसान जानता है। आत्मिक कृषि के लिए कुछ समय बहुत ही अनुकूल और उपयुक्त होते हैं। उपासनाएँ प्रातः या सायंकाल की जाती हैं। विशेष अनुष्ठान चैत्र और आश्विन की ऋतु से संध्याओं में किए जाते हैं। वर्षा से पूर्व देवोत्तर कृत्य बंद कर देने और देवोत्थान एकादशी से प्रारंभ करने की भारतीय परंपरा के पीछे संधिकाल में उपासना की वैज्ञानिक सर्वोपरिता कार्य करती है, उसी प्रकार यह समय युग-संधि का है। हिमालय वैसे ही अनादिकाल से साधना का क्षेत्र रहा है। यहाँ वे संस्कार आज भी जीवित और जाग्रत् हैं, ब्रह्मवर्चस् उसी हिमालय की पुण्य छाया में बसा है। सामने कल-कल, हर-हर कर बह रही निर्मल गंगा माँ की गोद और इतना संस्कारसंपन्न स्थान जहाँ सात ऋषियों ने बैठकर साधना की, सिद्धियाँ

पाई और प्रज्ञा प्रकाश सारे विश्व को वितरित किया। यह स्थान निस्संदेह आधी सफलता तत्काल देने वाला माना जा सकता है।

शेष आधी सफलता अपने जीवन-व्यवहार से संबंध रखती है। अच्छे, बीज, उर्वर भूमि और समुचित संस्कार के तदनंतर भी खेत को कीड़े-मकोड़ों, जंगली जानवरों से रक्षा के लिए मजबूत बागुड़ की, निराई, गोड़ाई और समय पर खाद-पानी की अपेक्षा भी उतनी ही आवश्यक होती है। इस दर्शन को समझा जाना आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। सिद्धियों के लोभ में आकर्षित जन-मानस अपनी इसी अनभिज्ञता के कारण तथाकथित सिद्धों के चक्कर में पड़कर न केवल अपना दीन-ईमान गँवा बैठता है, अपितु एक ऐसी अवांछनीय परंपरा डाले रहने का पाप-भागी बनता है। जिसके कारण आज विचारशील वर्ग धर्म से बुरी तरह कटता चला गया। आज के अनास्था संकट का कारण और कोई हो न हो, यह अंधविश्वास और अंधपरंपराएँ तो हैं हीं। सिद्धि का मार्ग और सिद्धि की भूल-भुलैयों का अंतर समझना आवश्यक है। इस अंतर को स्पष्ट करने की दृष्टि से ब्रह्मवर्चस् साधनाओं का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता है।

ब्रह्मवर्चस् साधना की संभावनाएँ असीम हैं, उसके लिए वातावरण से लेकर संरक्षण तक की सारी व्यवस्थाएँ इतने सुंदर ढंग से जुटाई गई हैं, जिसमें हर साधक संतोष अनुभव करता है और उस क्षति की रत्ती-रत्ती भरपाई अनुभव करता है, जो उसे घर से चलने से लेकर असुविधायुक्त यात्रा और स्वभाव से विपरीत रहन-सहन तक में उठानी पड़ती है। लौट जाने पर भी साधक उस अवधि को भूल नहीं पाते। किसी महत्त्वपूर्ण मील के पत्थर की तरह वह क्षण स्मरण कर वह बारंबार पुलकित होता है और उसे फिर से प्राप्त करने के स्वप्न सँजोता रहता है।

चांद्रायण तप और उनके साथ जुड़े साधना अभ्यास इस तरह रखे गए हैं कि एक ओर साधक उन ग्रंथियों को खोले, जो उसके पापपूर्ण जीवन के कारण, इंद्रिय-लिप्सा के कारण बार-बार भौतिक और अनैतिक बनाती और आत्महीनता के गर्त में जा धकेलती है। ऐसे व्यक्ति को जाल में उलझे हुए शिकार की संज्ञा देना अधिक

उपयुक्त रहता है। उसे अपने स्वास्थ्य का, आहार-विहार का, बालक-बच्चों तक का ध्यान नहीं रहता, सारी बुद्धिमत्ता और तड़पन इस बात में लगी रहती है कि इस जाल से बचा कैसे जाए ? आत्महीनता का चक्कर भी ऐसा ही है, जिसमें आदमी किये हुए दुष्कर्मों के जाल में ही बँधा घूमता है, उसे लोक-परलोक, आत्मा परमात्मा जैसे दार्शनिक सत्यों की अनुभूति तो तब हो, जब इस जंजाल से मुक्ति मिले। ब्रह्मवर्चस् साधना का चांद्रायण पक्ष—पाप स्वीकारोक्ति द्वारा साधक की आत्महीनता की ग्रंथियों को खोलता है। उसे लगता यों है कि उसने केवल इसी जन्म के पाप खोले हैं, किंतु समर्थ गुरुसत्ता अनेक जन्मों से उसकी आत्मा पर छायी मलिनताओं को भी अपनी पैनी और समर्थ दृष्टि से देखता है, साधना द्वारा साधक अपने इस जन्म के पाप जलाता, अनुभव करता है, किंतु उसके पिछले अनेक जन्मों के पाप-ताप काटने की एक अति सूक्ष्म प्रक्रिया भी यहाँ के वातावरण में संपन्न होती रहती है।

साधना द्वारा आंतरिक शक्तियों के स्वरूप का बोध होता है। यही श्रेयस् की प्राप्ति है। पलटा खाया हुआ साधक का बोध प्रकृति के उन गूढ़तम रहस्यों की भी अनुभूति करने लगता है, जो सामान्य स्थिति के चिंतन में कभी आ ही नहीं पाता। अपने साधना-विधान में मृदु चांद्रायण ही रखा गया है। प्रातःकाल चौदहवाँ अंश कम किया हुआ भोजन किंतु पेट के रिक्त स्थान को सायंकाल पेय से परिपूर्ण कर लेने की छूट कोई बहुत कठिन नहीं है, तथापि इस युग में जब आदमी ३६५ दिन में एक समय के लिए भी भोजन छोड़ने को तैयार न हो, इतने को भी पूरा तप कहना चाहिए। यह साधक के मन में अविज्ञात के प्रति निष्ठा, साहस, जाग्रत् करने का प्रारंभिक प्रयोग है, जिससे उसे आगे चलकर जीवन को साधनामय बनाने और सिद्धि प्राप्त करने में सुविधा होती हैं। यदि इस मार्ग पर कोई साधक पूरी निष्ठा के साथ चल ले, तो फिर उसे अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचने से कोई भी रोक नहीं सकेगा।

जीवन-साधना का मार्ग

आज जन-जीवन एक विडंबना मात्र बनकर रह गया है, जिसे ज्यों- ज्यों करके काटना पड़ता है। निर्वाह की आवश्यकता जुटाने, गुत्थियों को सुलझाने और प्रतिकूलताओं के अनुकूलन में माथापच्ची करते-करते मौत के दिन पूरे हो जाते हैं। अभावों और संकटों से पीछा नहीं छूटता। कई बार तो गाड़ी इतनी भारी हो जाती है कि खींचे नहीं खिंचती है। फलतः प्रयत्नपूर्वक अथवा बिना प्रयत्न ही अकाल मृत्यु के मुँह में प्रवेश करना पड़ता है। नीरस और निरर्थक जीवन एक ऐसा अभिशाप है, जिसे दुर्भाग्य के रूप में स्वीकार भर करना पड़ता है, किंतु लगता यही रहता है—बेकार जन्मे और निरर्थक जिए। साधारण जीवन का यही स्वरूप है, जो प्रतिकूल परिस्थितियों में तो अन्य प्राणियों से भी गया-बीता प्रतीत होता है।

असामान्य जीवन इससे आगे की बात है। सफल, समर्थ और समुन्नत स्तर के व्यक्ति सौभाग्यशाली दीखते हैं तथा उनकी स्थिति प्राप्त करने के लिए मन ललचाता है। भौतिक संपन्नता से संपन्न और आत्मिक विभूतियों के धनी लोगों की न प्राचीनकाल में कमी थी और न अब है। पिछड़े और समुन्नत वर्गों के मध्यांतर देखने से आश्चर्य होता है कि एक जैसी काया में रहने वाले मनुष्य प्राणियों की स्थिति का इतना ऊँच और नीच होने का क्या कारण हो सकता है ? स्रष्टा का पक्षपात और प्रकृति का अंतर कहने से भी काम नहीं चलता, क्योंकि दोनों को सुव्यवस्थित एवं सुनियोजित करने में अंधेरगर्दी के लिए कहीं रत्ती भर भी गुंजाइश नहीं है। यह व्यतिक्रम रहा होता तो ग्रह-नक्षत्र अपनी धुरी पर न घूमते, परमाणुओं के घटक उच्छृंखलता बरतते और परस्पर टकराकर उसी मूल स्थिति में लौट गए होते, जिसमें कि महत् तत्त्व अपनी अविज्ञात स्थिति में अनंत काल से पड़ा था। अंधेरगर्दी के रहते न यह सृष्टि बन ही पाती और न एक दिन चलती-ठहरती। यह सब कुछ परिपूर्ण व्यवस्था के अनुरूप चल रहा है।

फिर मनुष्यों के बीच पाये जाने वाले अंतर का क्या कारण है ? इसका सुनिश्चित उत्तर यही है कि जीवन की उथली परतों तक ही जिनका वास्ता रहा उन्हें छिलका ही हाथ लगा, किंतु जिनने नीचे उतरने की चेष्टा की, उन्हें एक के बाद एक बहुमूल्य उपलब्धि भी मिलती चली गई। गहराई में उतरने को अध्यात्म की भाषा में साधना कहते हैं। साधना किसकी ? इसका उत्तर है—जीवन की। जीवन प्रत्यक्ष कल्पवृक्ष है। जो उसकी जितनी सदुपयोग-साधना कर लेता है, वह उतना ही कृतकृत्य हो जाता है। जीवन का मूल्य, महत्त्व और उपलब्धि न समझना ही वह अभिशाप है, जिसके कारण गई बीती परिस्थितियों में दिन गुजारने पड़ते हैं। यदि स्थिति को बदल दिया जाए—जीवन देवता की अनंत सामर्थ्यों तथा उसके वरदानों की असीम शृंखला को समझा जा सके, तो प्रतीत होगा कि स्रष्टा ने बीज रूप से वैभव का भांडागार उसी मानवी काय-कलेवर के भीतर सँजोया हुआ था। भूल इतनी ही होती रही कि न उसे खोजा गया और न काम में लाया गया। इस भूल का परिमार्जन ही आत्म-ज्ञान है। यह जागृति जब सक्रिय बनती है तो आत्मोत्कर्ष के लक्षण तत्काल दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इसी आत्म-परिष्कार की प्रक्रिया का नाम 'साधना' है।

साधना से सिद्धि का सिद्धांत अक्षरशः सत्य है। भौतिक जगत् के विभिन्न क्षेत्रों में साधनारत पुरुषार्थी अनेकानेक सफलताएँ अर्जित करते देखे जाते हैं। जीवन भी एक ऐसा क्षेत्र है जिसे जड़ जगत् के किसी भी घटक एवं वर्ग से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। जड़ सीमित है, चेतन असीम। जड़ से साधन मात्र मिलते हैं, चेतन में आनंद और उल्लास के भी भंडार भरे पड़े हैं। साधना का एक सुविस्तृत विज्ञान है। अध्यात्म तत्त्वज्ञान के अंतर्गत उसकी व्यापक विवेचना की गई है।

साधना के अभ्यासों को देखते हुए यह भ्रम होता है कि कहीं बाहर से कुछ माँगने या पाने का यह उपक्रम है। वस्तुतः बात ऐसी है नहीं। उपयोगी उपार्जन के लिए अपने खेत में ही फसल बोनी और काटनी पड़ती है। अपने पुरुषार्थ से ही निर्वाचित होता है। बाहरी

सहायता के बल पर किसका काम चला है ? फिर याचना भर से मिलता भी किसे कितना है ? माता का दूध उपलब्ध रहने पर भी आखिर चूसने और पचाने का पुरुषार्थ तो उसे ही करना पड़ता है। इसके बिना दयालु माता भी शिशु को अपने अनुदानों से लाभान्वित नहीं कर सकती। दैवी शक्तियों के अनुग्रह से बहुत कुछ मिलता है। यह सत्य होने पर इससे भी बड़ा सत्य यह है कि उसके लिए पात्रता उपार्जित करनी पड़ती है। इंद्रदेव की विपुल वर्षा होते रहने पर भी न तो टीले पर जलराशि ठहरती है और न चट्टान पर हरियाली उत्पन्न होती है। इंद्रदेव कितने ही दयालु क्यों न हों, उनका अनुग्रह अभिवर्षण गहरे गड्ढों में ही जलाशय के रूप में संग्रह होता है। उर्वर भूमि ही वर्षा से लाभान्वित होती हरी-भरी बनती है।

पात्रता का संवर्द्धन साधना ही इसके लिए जीवन के बहिरंग को व्यवस्थित और अंतरंग को परिष्कृत करना होता है। परिष्कृति को योग और व्यवस्थिति को तप कहते हैं। साधना के यही दो क्षेत्र हैं। बहिरंग को सभ्यता की मर्यादा में करना होता है और अंतरंग को परिष्कृत करने के लिए प्रबल पुरुषार्थ करना पड़ता है। साधना का तत्त्वदर्शन यही है। सरकस का पशु-प्रशिक्षक अनगढ़ जानवरों को प्रशिक्षित करता है और उन्हें आश्चर्यजनक करतब दिखाने में अभ्यस्त कर लेता है। प्रकारांतर से यही प्रक्रिया जीवन संपदा के अनगढ़ और अव्यवस्थित स्वरूप को सुव्यवस्थित और समुन्नत बनाने के लिए करनी पड़ती है। साधना के समस्त उपचार इसी प्रयोजन के लिए सृजे गये हैं।

लोकमान्यता यह है कि सिद्धियाँ दैवानुग्रह से बरसती हैं। साधना उसी की मनुहार है, यह मान्यता आंशिक रूप से ही सत्य है। दुकानदार माँगने से ही कोई वस्तु निकालकर दिखा भर देता है। न माँगने पर तो वह देना तो दूर, कुछ बताएगा तक नहीं। प्रार्थना को अपनी आवश्यकता की अभिव्यक्ति कह सकते हैं। उस अर्थ में वह उचित भी है, आवश्यक भी है। भूल वहाँ होती है, जब प्रार्थना को याचना समझा जाता है। याचना का अर्थ है बिना मूल्य या अल्प मूल्य में कुछ बहुमूल्य पाने के लिए गिड़गिड़ाना। इस उपाय से बहुत

हलके अनुदान ही प्राप्त होते देखे गए हैं। इतने पर भी वे न तो संतोषजनक होते हैं और न सम्मानास्पद। उनका उपयोग करने के समय आत्म-ग्लानि भी होती है और बाहर से तिरस्कृत भी होना पड़ता है। फिर यह प्रचलन भी मानवी है। व्यक्तिगत याचना अनुदान का सिलसिला तो मानव समाज में ही प्रचलित है। विश्व-व्यवस्था में तो खरीदने-पाने भर का विधान है। स्रष्टा की समूची सृष्टि इसी व्यवस्था की धुरी पर परिभ्रमण करती है कि पात्रता प्रस्तुत करने वाले को अनुदान दिये जाएँ। पवन प्राणवायु की प्रचुर मात्रा लिए खड़ा रहता है, पर उसे सक्षम फेफड़े ही ग्रहण कर पाते हैं। मृतकों को कुछ दे सकने में समर्थ होते हुए भी पवन सर्वथा असमर्थ ही रहता है। मनोरम दृश्यों से भरी-पूरी इस दुनिया में निहारने का आनंद मात्र उन्हीं को मिलता है, जिनकी आँखें सही हैं। ध्वनि प्रवाह के अगणित उतार-चढ़ावों को समझने और श्रवण का आनंद लेने की सुविधा इस संसार में विद्यमान है, पर उससे लाभान्वित हो सकना उन्हीं के लिए शक्य है, जिनके कान की झिल्ली ठीक है। बाहर दैवी-अनुग्रह बरसने की बात सत्य होते हुए भी वह निर्विवाद नहीं है। यह शर्त जुड़ी ही हुई है कि अनुदान उपलब्ध करने के लिए पात्रता अनिवार्य है।

पात्रता का संवर्द्धन ही ब्रह्मवर्चस् साधना का उद्देश्य है। इस मार्ग पर चलने वाले को अतिरिक्त याचना नहीं करनी पड़ती। जो उपयुक्त है, वही अनायास ही मिलता है। उपयुक्त का तात्पर्य है अपने स्तर के अनुरूप। स्तर को बढ़ाये बिना न तो विभूतियाँ मिलती हैं और न मिलने पर ठहरती हैं। अतएव पात्रता का पाचन, समर्थता का अभिवर्द्धन अनिवार्य रूप से आवश्यक है। साधना में यही करना पड़ता है। वह प्रयास जितना प्रौढ़-प्रखर एवं परिपक्व होता है, उसी अनुपात में विभूतियाँ भीतर से उफनती और बाहर से बरसती दृष्टिगोचर होने लगती हैं। प्रारंभिक अभ्यास से लौटे साधक इसी आधार पर अपना भावी जीवन सार्थक करते रहते हैं।

साधना से अदृश्य शक्तियों की, सिद्धियों की उपलब्धि का प्रतिपादन गलत नहीं है। ईश्वर का अनुग्रह सृष्टि के हर घटक पर

अनादि काल से बरसता रहा है और अनंत काल तक बरसता रहेगा। उसे न्यूनाधिक मात्रा में प्राप्त कर सकना अपने स्तर के अनुरूप ही हो सकता है। संसार में आहार के विपुल भंडार भरे पड़े हैं। उन्हें प्राप्त करने की सभी को सुविधा है। किंतु चींटी अपने स्तर की मात्रा में सामग्री प्राप्त करती है और हाथी को अपने काम के पदार्थ अपनी आवश्यकतानुसार मिलते रहते हैं। स्रष्टा के अनुग्रह-अनुदान में कोई कमी नहीं है। उससे याचना करने की आवश्यकता नहीं। पात्रता सिद्ध कर देना भर पर्याप्त है। ब्रह्मवर्चस् साधना का उद्देश्य इसी पात्रता का अभिवर्धन करने की जीवन-शैली का मार्गदर्शन समझा जाना चाहिए।

पेड़ अपनी आकर्षण शक्ति से बादलों को खींचने और बरसने के लिए विवश करते हैं। पौधों पर ओस के कण जमा होते हैं। खदानें अपने सजातीय कणों को दूर-दूर तक आमंत्रण भेजती हैं और उन्हें अपने निकट खींच बुलाती हैं। यह चुंबकत्व है, जो जहाँ जितना अधिक होता है—सजातियों से उसका उसी स्तर का आह्वान-आमंत्रण मिलता है, फलतः वे उसी गति से दौड़ते चले आते हैं। खिलते फूल का चुंबकत्व मधुमक्खियों, तितलियों और भौंरों को न्योत बुलाता है। खिलते हुए यौवन से अनेकों आँखें अनायास ही आकर्षित होती हैं। प्रतिभा अनेकों को प्रशंसक एवं अनुगामी बनाती है। यह चुंबकत्व का चमत्कार है। साधक का चुंबकत्व दैवी शक्तियों को अदृश्य लोक से आमंत्रित करता है और उन्हें अनुग्रह बरसाने के लिए सहज-सहमत करता है।

सिद्धियों की एक धारा ऊपर से—बाहर से बरसती है और दूसरी नीचे से—भीतर से उभरती है। दैवी अनुग्रह से अनेकों लाभान्वित होते हैं, ठीक इसी प्रकार आत्मोत्कर्ष की प्रक्रिया द्वारा सुषुप्त क्षमताओं का जागरण होता है, तो उनके साथ ही वे विभूतियाँ प्रकट होती हैं, जिनसे सामान्य जन वंचित ही नहीं, अपरिचित भी बने रहते हैं। मनुष्य के भीतर बहुत कुछ है। इतना कुछ जिसे स्रष्टा की सामर्थ्य के समतुल्य ही कहा जा सकता है। वृक्ष का विशालकाय ढाँचा छोटे से बीज में सुनिश्चित रूप से विद्यमान रहता है।

सौर-मंडल की समस्त प्रक्रिया सूक्ष्म रूप से नन्हें से परमाणु में यथावत् गतिशील रहती है। जड़ें नीचे से रस खींचतीं और पेड़ के कलेवर को हरा-भरा, पुष्पित-पल्लवित बनाने के सारे सरंजाम जुटाती हैं। यद्यपि वे आँखों से दीखती नहीं। जमीन में दबी रहती हैं। तो भी जानवरों को पता रहता है कि पेड़ तो मात्र कलेवर है, उसकी शोभा-समर्थता का स्रोत तो अदृश्य जड़ों में ही पूर्णतया सन्निहित है। जीव का छोटा अंतराल लगभग उतना ही समर्थ है, जितना ब्रह्म का विराट्-विस्तार। व्यक्ति भीतर से ही उगते-उठते हैं। बाहर तो उसे अंतरंग प्रगति का प्रमाण-परिचय भर मिलता है।

जीव की प्रसुप्त शक्तियाँ भीतर से जगती-उभरती हैं। उनके उफलने पर उसी तरह की प्रवाह धारा बहने लगती है, जैसे कि यमुना, नर्मदा, चंबल आदि छोटे कुंडों में से निकलकर भूतल पर प्रवाहित होती हैं। ब्रह्म की दिव्य शक्तियाँ साधक पर अंतरिक्ष से घटाओं की तरह बरसती हैं। निर्झर भी ऊपर से नीचे गिरते और भूमि पर गतिशील होते देखे जाते हैं। ये दोनों ही सौभाग्य हर किसी के लिए सहज-सुलभ हैं। पात्रता का परिचय देकर इस संसार के विभिन्न बाजारों में कुछ भी कितनी ही मात्रा में खरीदा जा सकता है। मंडी में पैसे की तूती बोलती है। धनवान् इच्छानुसार किसी स्तर के सुविधा-साधन कितनी ही मात्रा में खरीद सकते हैं। इसी प्रकार बलिष्ठता, बुद्धिमत्ता, प्रतिभा आदि सामर्थ्यों के भी अपने-अपने क्षेत्र पड़े हैं और उनमें उपलब्धियाँ प्राप्त करने वाले अपनी योग्यता एवं तत्परता के अनुरूप जो चाहें सो, जितना चाहें सो खरीद सकते हैं। जिनकी जेब खाली हैं, जो अकर्मण्य हैं, उन्हें बड़े मनोरथ करने में भी निराशा का कष्ट सहन करना पड़ता है। मिलना तो उन्हें है ही क्या ? प्रार्थना, याचना करते रहने पर भी उनके पल्ले कुछ नहीं पड़ता है। समर्थता ही वह पूँजी है, जिसे विभिन्न उपलब्धियों को खरीद सकने वाली पात्रता कह सकते हैं। इस बहुमुखी पात्रता का उपार्जन-पुरुषार्थ ही साधना है।

साधना से सिद्धि का सिद्धांत सुनिश्चित है। भौतिक क्षेत्र में अपने-अपने प्रसंग में साधनरत पुरुषार्थी अभीष्ट मनोरथ पूरे करते

देखे जाते हैं। आत्मोत्कर्ष भी चेतनात्मक विभूतियाँ उपार्जन करने की एक विशिष्ट प्रक्रिया है। उससे सफलता प्राप्त करने का सिद्धांत भी वही है, जो भौतिक सफलताओं पर लागू होता है। साधक जीवन देवता की साधना करते हैं। उनके अंतरंग और बहिरंग दोनों पक्षों को समुन्नत बनाते हैं। सामान्य स्थिति में यहाँ सब कुछ अनगढ़ रहता है। उत्कृष्टता युक्त दृष्टिकोण एवं पुरुषार्थ उसे सुंदर, सुव्यवस्थित बनाता है। झाड़ियों के स्थान पर उद्यान लगाना—वन्य पशुओं को पालतू बनाना—अनगढ़ को सुघढ़ में परिवर्तित करना संस्कृति है। इसी का चमत्कार दृश्य जगत् में सर्वत्र बिखरा पड़ा है। साहित्य ने चिंतन को दिशा दी है। सृजन ने सुविधा-साधन खड़े किये हैं। अपने आपको सद्गुणों की संपदा से लदा हुआ कल्पवृक्ष बना लेना, यही ब्रह्मवर्चस् साधना का उद्देश्य है।

साधना से सिद्धि का सिद्धांत शाश्वत सत्य की तरह स्पष्ट है। न उसमें संदेह की गुंजाइश है और न विवाद की। मात्र साधना का स्वरूप और उद्देश्य समझने भर की है। यदि उसे पात्रता का—समर्थता का व्यक्तित्व का—परिष्कार माना जाए—उसी दृष्टि से उस महाप्रयास में निरत हुआ जाए, तो ऐतिहासिक एवं विद्यमान महामानवों की तरह हर कोई अपने स्तर को क्रमशः अधिकाधिक ऊँचा उठा सकता है। इतना ऊँचा, जिसकी गरिमा को हिमालय से कम नहीं, वरन् अधिक ही उत्तुंग, समुन्नत एवं समृद्ध कहा जा सके। साधना क्षेत्र में निराश उन्हें रहना पड़ता है, जो आत्म-परिष्कार के लिए कुछ नहीं करते, वरन् देवताओं को फुसलाने वाले सस्ते तरीके ढूँढ़ते और उतने भर से ही लंबी-चौड़ी आशाएँ लगाए रहते हैं।

गायत्री अनुष्ठान का विज्ञान और विधान

साधारण ढंग से साधारण कार्यों को बड़ी सरलतापूर्वक संपन्न किया जा सकता है। किंतु विशिष्ट कार्यों को संपन्न करने में अभीष्ट सफलता प्राप्त करनी हो, तो उसके लिए विशेष ढंग से योजना बनानी पड़ती है, विशेष साधन जुटाने पड़ते हैं और विशेष मनोयोग लगाना

पड़ता है। इस विशिष्टता को अपनाए बिना महत्त्वपूर्ण कार्यों को नियत अवधि में अपेक्षित सफलता प्राप्त करते हुए संपन्न कर पाना संभव नहीं होता। साधना के संबंध में भी यही बात है। नित्यकर्म के रूप में गायत्री की सामान्य उपासना प्रतिदिन की जाती है। उससे प्राय: मन:शुद्धि का उद्देश्य पूरा होता रहता है। शरीर से हमेशा पसीना निकलता रहता है और चमड़ी पर मैल जमा होता रहता है। उसकी सफाई के लिए नित्य स्नान की आवश्यकता पड़ती है और स्वच्छ रहने के लिए वह किया भी जाता है। गंदगी जमना स्वाभाविक है, तो उसकी सफाई का क्रम बनाये रखना आवश्यक है। मन के ऊपर वातावरण के प्रभाव से कषाय-कल्मषों की परतें जमती रहती हैं। दैनिक उपासना का नित्यक्रम बना लेने से उनकी सफाई का उद्देश्य पूरा होता रहता है। प्राय: सभी नित्यकर्मों का उद्देश्य सहज रीति से स्वभावत: होने वाली मलिनता का निवारण, निष्कासन करना है। इसका अपना महत्त्व है और अपनी उपयोगिता।

यदि अतिरिक्त रूप से आध्यात्मिक सामर्थ्य उत्पन्न करना हो, तो उसके लिए संकल्पपूर्वक नियत प्रतिबंधों और तपश्चर्याओं के साथ विशिष्ट उपासनाएँ करनी होती हैं। इन्हें अनुष्ठान कहते हैं। सामान्य उपासना की तुलना में अनुष्ठानों द्वारा उत्पन्न शक्ति का स्तर तथा परिमाण कहीं अधिक होता है। अधिक श्रम, अधिक समय, अधिक तत्परता और अधिक तपश्चर्या का समावेश होने से गायत्री उपासना में विशिष्टता उत्पन्न होती और उसका प्रभाव-परिणाम अधिक ऊँचे स्तर पर दीख पड़ना स्वाभाविक है।

जब कहीं परदेश के लिए यात्रा की जाती है, तो रास्ते के लिए कुछ भोजन सामग्री तथा खर्च को रुपये साथ रख लेना आवश्यक होता है। यदि यह मार्ग-व्यय साथ न हो, तो यात्रा बड़ी कष्टमय हो जाती है। अनुष्ठान एक प्रकार का मार्ग-व्यय है। इस साधना को करने से पूँजी जमा हो जाती है। उसे साथ लेकर किसी भी भौतिक या आध्यात्मिक कार्य में जुटा जाए, तो यात्रा बड़ी सरल हो जाती है।

बच्चा दिन भर माँ-माँ पुकारता रहता है, माता भी दिन भर बेटा, लल्ला कहकर उसको उत्तर देती रहती है, लाड़-दुलार यों ही दिन भर

चलता रहता है। पर जब कोई विशेष आवश्यकता पड़ती है, कष्ट होता है, कठिनाई आती है, आशंका होती या सहायता की जरूरत पड़ती है, तो बालक विशेष स्वर से माता को पुकारता है। इस विशेष स्वर को सुनकर माता अपने अन्य कामों को छोड़कर बालक के पास दौड़ी आती है और उसकी सहायता करती है। अनुष्ठान साधक की ऐसी ही पुकार है, जिसमें विशेष बल एवं आकर्षण होता है, उस आकर्षण से गायत्री शक्ति विशेष रूप से साधक के समीप एकत्रित हो जाती है।

जब सांसारिक प्रयत्न असफल हो रहे हों आपत्ति का निवारण होने का मार्ग न सूझ पड़ता हो, चारों ओर अंधकार छाया हुआ हो, भविष्य निराशाजनक दिखाई दे रहा हो, परिस्थितियाँ दिन-दिन बिगड़ती जाती हों, सीधा करते उलटा परिणाम निकलता हो, तो स्वभावतः मनुष्य के हाथ-पाँव फूल जाते हैं। चिंताग्रस्त और उद्विग्न मनुष्य की बुद्धि ठीक काम नहीं करती। जाल में फँसे कबूतर की तरह वह जितना फड़फड़ाता है, उतना ही जाल में और अधिक फँसता जाता है। ऐसे अवसरों पर "हारे को हरिनाम" बल होता है। गज, द्रौपदी, नरसी, प्रहलाद आदि को उसी बल का आश्रय लेना पड़ा था। देखा गया है कि कई बार जब सांसारिक प्रयत्न कुछ विशेष कारगर नहीं होते, तो दैवी सहायता मिलने पर सारी स्थिति ही बदल जाती है और विपदाओं की रात्रि के घोर अंधकार को चीरकर अचानक ऐसी बिजली कौंध जाती है, जिसके प्रकाश से पार होने का रास्ता मिल जाता है। अनुष्ठान ऐसी ही प्रक्रिया है। वह हारे हुए का चीत्कार है, जिससे देवताओं का सिंहासन हिलता है। अनुष्ठान का विस्फोट हृदयाकाश में एक ऐसे प्रकाश के रूप में होता है, जिसके द्वारा विपत्तिग्रस्त को पार होने का रास्ता दिखाई दे जाता है।

सांसारिक कठिनाइयों में, मानसिक उलझनों में, आंतरिक उद्वेगों में गायत्री अनुष्ठान से असाधारण सहायता मिलती है। यह ठीक है कि किसी को सोने का घड़ा भरकर अशरफियाँ गायत्री नहीं दे जाती, पर यह भी ठीक है कि उसके प्रभाव से मनोभूमि में ऐसे मौलिक परिवर्तन होते हैं, जिनके कारण कठिनाई का उचित हल निकल आता

है। उपासक में ऐसी बुद्धि, ऐसी प्रतिभा, ऐसी सूझ, ऐसी दूरदर्शिता पैदा हो जाती है, जिसके कारण वह ऐसा रास्ता प्राप्त कर लेता है जो कठिनाई के निवारण में रामबाण की तरह फौलाद सिद्ध होता है। भ्रांत मस्तिष्क में कुछ असंगत, असंभव और अनावश्यक विचारणाएँ, कामनाएँ, मान्यताएँ घुस पड़ती हैं, जिनके कारण वह व्यक्ति अकारण दुखी बना रहता है। गायत्री-साधना से मस्तिष्क का ऐसा परिमार्जन हो जाता है, जिससे कुछ समय पहले जो बातें अत्यंत आवश्यक और महत्त्वपूर्ण लगती थीं, वे ही पीछे अनावश्यक और अनुपयुक्त जँचने लगती हैं। इस तरह के कई परिवर्तन होते हैं और ये परिवर्तन इतने आनंददायक होते हैं कि इनके सामने कल्पित भ्रांत कामनाओं के पूरे होने का सुख कोई महत्त्व नहीं रखता।

ब्रह्मवर्चस् साधना सत्रों में, एक माह की अवधि के बीच साधकों से सवा लाख गायत्री मंत्र का अनुष्ठान भी कराया जाता है। इसके साथ पंचकोशों के अनावरण और कुंडलिनी जागरण की साधना भी कराई जाती है। सवा लक्ष का अनुष्ठान इन सभी साधनाओं के साथ करना पड़ता है।

अनुष्ठान की विधि—

यह अनुष्ठान किसी भी मास में किया जा सकता है। तिथियों में पंचमी, एकादशी, पूर्णमासी शुभ मानी गई है। पंचमी को दुर्गा, एकादशी को सरस्वती, पूर्णमासी को लक्ष्मी तत्त्व की प्रधानता रहती है। शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष दोनों में से किसी का निषेध नहीं है, पर कृष्णपक्ष की अपेक्षा शुक्लपक्ष अधिक शुभ है।

अनुष्ठान आरंभ करते हुए नित्य गायत्री का आह्वान और अंत करते हुए विसर्जन करना चाहिए। इस प्रतिष्ठा में भावना और निवेदन प्रधान है। श्रद्धापूर्वक "भगवती जगज्जननी, भक्तवत्सला गायत्री यहाँ प्रतिष्ठित होने का अनुग्रह कीजिए।" ऐसी प्रार्थना संस्कृत या मातृभाषा में करनी चाहिए और विश्वास करना चाहिए कि प्रार्थना को स्वीकार करके वे कृपापूर्वक पधार गई हैं। विसर्जन करते समय प्रार्थना करनी चाहिए कि "आदि शक्ति, भयहारिणी, शक्तिदायिनी, तरणतारिणी मातृके ! अब विसर्जित हूजिए।" इस भावना को

संस्कृत या अपनी मातृभाषा में कह सकते हैं। इस प्रार्थना के साथ-साथ यह विश्वास करना चाहिए कि प्रार्थना स्वीकृत करके वे विसर्जित हो गई हैं।

कई ग्रंथों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि जप से दसवाँ भाग हवन, हवन से दसवाँ भाग तर्पण, तर्पण से दसवाँ भाग ब्राह्मण-भोजन कराना चाहिए। यह नियम तंत्रोक्त रीति से किए हुए पुरश्चरण के लिए है। इन पंक्तियों में वेदोक्त योग विधि की दक्षिणमार्गी साधना बताई जा रही है। इसके अनुसार तर्पण की आवश्यकता नहीं है। अनुष्ठान के अंत में १०८ आहुति का हवन तो कम-से- कम होना आवश्यक है, अधिक तो सामर्थ्य और सुविधा के अनुसार है। इसी प्रकार त्रिपदी गायत्री के लिए कम-से-कम तीन ब्राह्मणों का भोजन भी होना चाहिए। दान के लिए इस प्रकार की कोई मर्यादा नहीं बाँधी जा सकती। यह साधक की श्रद्धा का विषय है, पर अंत में दान करना अवश्य चाहिए।

किसी छोटी चौकी, चबूतरी या आसन पर फूलों का एक छोटा सुंदर-सा आसन बनाना चाहिए और उस पर गायत्री की प्रतिष्ठा होने की भावना करनी चाहिए। साकार उपासना के समर्थक भगवती का कोई सुंदर-सा चित्र अथवा प्रतिमा को उन फूलों पर स्थापित कर सकते हैं, निराकार के उपासक निराकार भगवती की शक्ति-पुंज का एक स्फुलिंग वहाँ प्रतिष्ठित होने की भावना कर सकते हैं। कोई-कोई साधक धूपबत्ती की, दीपक की अग्नि-शिखा में भगवती की चैतन्य ज्वाला का दर्शन करते हैं और उसी दीपक या धूपबत्ती को फूलों पर प्रतिष्ठित करके अपनी आराध्य शक्ति की उपस्थिति अनुभव करते हैं। विसर्जन के समय प्रतिमा को हटाकर शयन करा देना चाहिए, पुष्पों को जलाशय या पवित्र स्थान में विसर्जित कर देना चाहिए। अधजली धूपबत्ती या रूईबत्ती को बुझाकर उसे भी पुष्पों के साथ विसर्जित कर देना चाहिए। दूसरे दिन जली हुई बत्ती का प्रयोग फिर न होना चाहिए।

गायत्री पूजन के लिए पाँच वस्तुएँ प्रधान रूप से मांगलिक मानी गई हैं। इन पूजा पदार्थों में वह प्राण है, जो गायत्री के अनुकूल

पड़ता है। इसलिए पुष्प आसन पर प्रतिष्ठित गायत्री के सम्मुख धूप जलाना, दीपक स्थापित रखना, नैवेद्य चढ़ाना, चंदन लगाना तथा अक्षतों की वृष्टि करनी चाहिए। अगर दीपक या धूप को गायत्री की स्थापना में रखा गया है, तो उसके स्थान पर जल का अर्घ्य देकर पाँचवें पूजा-पदार्थ की पूर्ति करनी चाहिए।

पूर्ववर्णित विधि से प्रातःकाल पूर्वाभिमुख होकर शुद्ध भूमि पर, शुद्ध होकर कुश के आसन पर बैठें। जल का पात्र समीप रख लें। घृत और दीपक जप के समय जलते रहने चाहिए। बुझ जाए तो उस बत्ती को हटाकर नई बत्ती डालकर पुनः जलाना चाहिए। दीपक या उसमें पड़े हुए घृत को हटाने की आवश्यकता नहीं है।

पुष्प आसन पर गायत्री की प्रतिष्ठा और पूजा के अनंतर जप प्रारंभ कर देना चाहिए। नित्य यही क्रम रहे। प्रतिष्ठा और पूजा, अनुष्ठान काल में नित्य होते रहने चाहिए। जप के समय मन को श्रद्धान्वित रखना चाहिए, स्थिर बनाना चाहिए। मन चारों ओर न दौड़े, इसलिए पूर्ववर्णित ध्यान-भावना के अनुसार गायत्री का ध्यान करते हुए जप करना चाहिए। साधना के इस आवश्यक अंग ध्यान में मन लगा देने से वह एक कार्य में उलझा रहता है और जगह-जगह नहीं भागता। भागे तो उसे रोक-रोककर बार-बार ध्यान-भावना पर लगाना चाहिए। इस विधि से एकाग्रता की दिन-दिन वृद्धि होती चलती है।

सवालक्ष जप को चालीस दिन में पूरा करने का क्रम पूर्वकाल से चला आता है, पर निर्धन अथवा कम समय तक साधना कर सकने वाले साधक उसे दो मास में भी समाप्त कर सकते हैं। प्रतिदिन जप की संख्या बराबर होनी चाहिए, किसी दिन ज्यादा किसी दिन कम ऐसा क्रम ठीक नहीं। यदि चालीस दिन में अनुष्ठान पूरा करना हो, तो ३३ माला गायत्री मंत्र का जप प्रतिदिन करना चाहिए। यदि दो मास में जप करना हो, तो २० मालाएँ प्रतिदिन जपी जानी चाहिए। माला की गिनती याद रखने के लिए खड़िया या मिट्टी को गंगाजल में सानकर छोटी-छोटी गोली बना लेनी चाहिए और एक माला जपने पर एक गोली एक स्थान से दूसरे स्थान पर रख देनी चाहिए। इस

प्रकार जब सब गोलियाँ इधर से उधर हो जाएँ, तो जप समाप्त कर देना चाहिए। इस क्रम से जप संख्या में भूल नहीं पड़ती।

अनुष्ठान के अंत में हवन करना चाहिए, तदनंतर शक्ति के अनुसार दान और ब्रह्मभोजन कराना चाहिए। ब्रह्मभोजन उन्हीं ब्राह्मण को कराना चाहिए, जो वास्तव में ब्राह्मण हैं, वास्तव में ब्रह्मपरायण हैं। कुपात्रों को दिया हुआ भोजन निष्फल जाता है, इसलिए निकटस्थ या दूरस्थ ब्राह्मणों को ही भोजन कराना चाहिए।

ब्रह्मवर्चस् साधना सत्रों में कराया जाने वाला अनुष्ठान एक मास में ही पूरा करना होता है। एक माह की अवधि में सवा लाख जप पूरा करने में ४२ मालाओं का जाप प्रतिदिन करना पड़ता है। घर पर भी यदि एक माह की अवधि में यह अनुष्ठान पूरा करना हो, तो इस क्रम से यह संख्या पूरी की जा सकती है। अनुष्ठान केवल जप साधन ही नहीं है, उसके साथ विशेष तप-तितिक्षाओं के नियमों का पालन भी करना पड़ता है। अनुष्ठान काल में पालन करने योग्य नियम इस प्रकार हैं—

(अ) उपवास—फल, दूध पर रहना या एक समय बिना नमक का भोजन करना।

(आ) ब्रह्मचर्य से रहना।

(इ) जमीन या तख्त पर सोना। चमड़े के जूते न पहनना।

(ई) अपनी हजामत, कपड़े धोना, भोजन बनाने आदि का काम स्वयं अपने ही हाथ से करना।

(उ) यथासंभव मौन रहना। नियमित रूप से निश्चित अवधि तक कम-से-कम दो घंटे प्रतिदिन मौन रहना और मौन के समय आत्मचिंतन करते रहना चाहिए।

ये पाँचों नियम तप-तितिक्षा के अंतर्गत आते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और आवश्यक सावधानियाँ भी हैं, जिनका ध्यान अनुष्ठान ही नहीं, सामान्य साधनाओं में भी रखना पड़ता है। उनमें से कुछ नियम इस प्रकार हैं—

(१) शरीर को शुद्ध करके ही साधना पर बैठना चाहिए। साधारणतः स्नान के द्वारा ही शरीर की शुद्धि होती है। परंतु किन्हीं विशेष परिस्थितियों में, विवशता में, ऋतु की प्रतिकूलता में या अस्वस्थता की दशा में हाथ-मुँह धोकर या गीले कपड़े से शरीर पोंछकर भी काम चलाया जा सकता है।

(२) साधना के समय शरीर पर कम-से-कम वस्त्र रहने चाहिए। शीत की अधिकता हो, तो कसे हुए कपड़े पहनने की अपेक्षा कंबल आदि ओढ़कर शीत-निवारण कर लेना उत्तम है।

(३) साधना के लिए एकांत, खुली हवा की एक ऐसी जगह ढूँढ़नी चाहिए, जहाँ का वातावरण शांतिमय हो। खेत, बगीचा, जलाशय का किनारा, देव मंदिर इस कार्य के लिए उपयुक्त होते हैं, पर जहाँ ऐसा स्थान मिलने में असुविधा हो, वहाँ घर का कोई स्वच्छ और शांत भाग भी चुना जा सकता है।

(४) पालथी मारकर सीधे-सीधे ढंग से बैठना चाहिए। कष्टसाध्य आसन लगाकर बैठने से शरीर को कष्ट होता है और मन बार-बार उचटता है, इसलिए इस तरह बैठना चाहिए जिससे देर तक बैठे रहने में असुविधा न हो।

(५) रीढ़ की हड्डी को सदा सीधा रखना चाहिए। कमर झुकाकर बैठने से मेरुदंड टेढ़ा हो जाता है और सुषुम्ना नाड़ी में प्राण का आवागमन होने में बाधा पड़ती है।

(६) बिना बिछाए जमीन पर साधना करने के लिए न बैठना चाहिए। इससे साधना-काल में उत्पन्न होने वाली शारीरिक विद्युत् जमीन पर उतर जाती है। घास या पत्तों से बने हुए आसन सर्वश्रेष्ठ हैं। कुश का आसन, चटाई, रस्सियों का बना फर्श सबसे अच्छे हैं। इनके बाद सूती आसनों का नंबर है। ऊन के तथा चर्म के आसन तांत्रिक कर्मों में प्रयुक्त होते हैं।

(७) माला तुलसी या चंदन की लेनी चाहिए। रुद्राक्ष, लाल चंदन, शंख आदि की माला गायत्री के तांत्रिक प्रयोगों में प्रयुक्त होती है।

(८) प्रातःकाल दो घंटे के तड़के जप आरंभ किया जा सकता है। सूर्य अस्त होने के एक घंटे बाद जप समाप्त कर लेना चाहिए। एक घंटा शाम का, २ घंटे प्रातःकाल के, कुल ३ घंटों को छोड़कर रात्रि के अन्य भागों में गायत्री की दक्षिणमार्गी साधना नहीं करनी चाहिए। तांत्रिक साधनाएँ अर्द्ध रात्रि के आस-पास की जाती हैं।

(९) साधना के लिए चार बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए—(अ) चित्त एकाग्र रहे, मन इधर-उधर न उछलता फिरे। यदि चित्त बहुत दौड़े, तो उसे माता की सुंदर छवि के ध्यान में लगाना चाहिए। (ब) माता के प्रति अगाध श्रद्धा और विश्वास हो, अविश्वासी और शंकाशंकित मति वाले पूरा लाभ नहीं पा सकते। (स) दृढ़ता के साथ साधना पर अड़े रहना चाहिए। अनुत्साह, मन उचटना, नीरसता प्रतीत होना, जल्दी लाभ न मिलना, अस्वस्थता तथा अन्य सांसारिक कठिनाइयों का मार्ग में आना साधना के विघ्न हैं। इन विघ्नों से लड़ते हुए अपने मार्ग पर दृढ़तापूर्वक बढ़ते चलना चाहिए। (द) निरंतरता साधना का आवश्यक नियम है। अत्यंत कार्य होने या विषम स्थिति आ जाने पर भी किसी-न-किसी रूप में चलते-फिरते ही सही, पर माता की उपासना अवश्य कर लेनी चाहिए। किसी भी दिन नागा या भूल नहीं करनी चाहिए। समय को रोज-रोज नहीं बदलना चाहिए। कभी सबेरे, कभी दोपहर, कभी तीन बजे, तो कभी दस बजे ऐसी अनियमितता ठीक नहीं। इन चार नियमों के साथ की गई साधना बड़ी प्रभावशाली होती है।

(१०) किसी अनुभवी तथा सदाचारी को साधना-गुरु नियत करके तब साधना करनी चाहिए। अपने लिए कौन-सी साधना उपयुक्त है, इसका निर्णय उसी से कराना चाहिए। रोगी अपने रोग को स्वयं समझने और अपने आप दवा तथा परहेज का निर्णय करने में समर्थ नहीं होता, उसे किसी वैद्य की सहायता लेनी पड़ती है। इसी प्रकार अपनी मनोभूमि के अनुकूल साधना बताने वाला भूलों तथा कठिनाइयों का समाधान करने वाला साधना-गुरु होना अति आवश्यक है।

(११) प्रातःकाल की साधना के लिए पूर्व की ओर मुँह करके बैठना चाहिए और शाम को पश्चिम की ओर मुँह करके। प्रकाश की ओर, सूर्य की ओर मुँह करना उचित है।

(१२) पूजा के लिए फूल न मिलने पर चावल या नारियल की गिरी को कद्दूकस पर कसकर उसके बारीक पत्रों को काम में लाना चाहिए। यदि किसी विधान में रंगीन पुष्पों की आवश्यकता हो, तो चावल या गिरी के पत्रों को केसर, हलदी, गेरू, मेंहदी के देशी रंगों से रँगा जा सकता है। विदेशी अशुद्ध चीजों से बने रंग काम में नहीं लेने चाहिए।

(१३) देर तक एक पालथी से, एक आसन पर बैठे रहना कठिन होता है, इसलिए जब एक तरह से बैठे-बैठे पैर थक जाएँ, तब उन्हें बदला जा सकता है। इसे बदलने में दोष नहीं।

(१४) मल-मूत्र त्याग या किसी अनिवार्य कार्य के लिए साधना के बीच में उठना पड़े, तो शुद्ध जल से हाथ-मुँह धोकर तब दोबारा बैठना चाहिए और विक्षेप के लिए एक माला का अतिरिक्त जप प्रायश्चित्त स्वरूप करना चाहिए।

(१५) यदि किसी दिन अनिवार्य कारण से साधना स्थगित करनी पड़े, तो दूसरे दिन एक माला अतिरिक्त जप दंडस्वरूप करना चाहिए।

(१६) जन्म या मृत्यु के सूतक हो जाने पर शुद्धि होने तक माला आदि की सहायता से किये जाने वाला विधिवत् जप स्थगित रखना चाहिए। केवल मानसिक जप मन-ही-मन चालू रख सकते हैं। यदि इस प्रकार का अवसर सवालक्ष जप के अनुष्ठान काल में आ जाए तो उतने दिनों अनुष्ठान स्थगित रखना चाहिए। सूतक निवृत्त होने पर उसी संख्या पर से आरंभ किया जा सकता है, जहाँ से छोड़ा था। उससे विक्षेप काल की शुद्धि के लिए एक हजार जप विशेष रूप से करना चाहिए।

(१७) साधक का आहार-विहार सात्त्विक होना चाहिए। आहार में सतोगुणी, सादा, सुपाच्य ताजे तथा पवित्र हाथों से बनाए हुए पदार्थ होने चाहिए। अधिक मिर्च-मसाले वाले तले हुए पकवान, मिष्टान्न,

बासी, बुसे, दुर्गंधित, मांस, नशीले, अभक्ष्य, उष्ण, दाहक, अनीति-उपार्जित, गंदे मनुष्यों द्वारा बनाए हुए, तिरस्कारपूर्वक दिए हुए भोजन से जितना बचा जा सके, उतना ही अच्छा है।

(१८) व्यवहार जितना भी प्राकृतिक, धर्मसंगत, सरल एवं सात्त्विक रह सके, उतना ही उत्तम है। फैशनपरस्ती, रात्रि में अधिक जागना, दिन में सोना, सिनेमा, नाच-रंग अधिक देखना, परनिंदा, छिद्रान्वेषण, कलह, दुराचार, ईर्ष्या, निष्ठुरता, आलस्य, प्रमाद, मद, मत्सर से जितना बचा जा सके, बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

(१९) यों ब्रह्मचर्य तो सदा उत्तम है, पर गायत्री अनुष्ठान के ४० दिन में उसकी विशेष आवश्यकता है।

(२०) एकांत में जप करते समय माला खुले रूप से जपनी चाहिए। जहाँ बहुत आदमियों की दृष्टि पड़ती हो, वहाँ कपड़े से ढक लेना चाहिए या गोमुखी में हाथ डाल लेना चाहिए।

(२१) साधना के उपरांत पूजा के बचे हुए अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य, फूल, जल, दीपक की बत्ती, हवन की भस्म आदि को यों ही जहाँ-तहाँ ऐसी जगह नहीं फेंक देना चाहिए, जहाँ वह पैरों तले कुचलती फिरे। किसी तीर्थ, नदी, जलाशय, देव मंदिर, कपास, जौ, चावल का खेत आदि पवित्र स्थानों पर विसर्जन करना चाहिए। चावल चिड़ियों के लिये डाल देना चाहिए। नैवेद्य आदि बालकों को बाँट देना चाहिए। जल को सूर्य के सम्मुख अर्घ्य देना चाहिए।

(२२) वेदमंत्रों का सस्वर उच्चारण करने का विधान है, पर सब लोग यथाविधि गायत्री का सस्वर पाठ नहीं कर सकते। इसलिए जप इस प्रकार करना चाहिए कि कंठ से ध्वनि होती रहे, ओंठ हिलते रहें, पर पास में बैठा हुआ मनुष्य भी स्पष्ट रूप से मन्त्र को न सुन सके। इस प्रकार जप स्वर-बंधनों से मुक्त होता है।

(२३) साधना की अनेकों विधियाँ हैं। अनेक लोग अनेक प्रकार से करते हैं। अपनी साधना-विधि दूसरों को बताई जाए तो कुछ-न-कुछ मीन-मेख निकालकर संदेह और भ्रम उत्पन्न कर देगा। इसलिए अपनी साधना-विधि हर किसी को नहीं बतानी चाहिए। यदि दूसरे मतभेद प्रकट करें तो अपने साधना-गुरु के आदेश को ही

सर्वोपरि मानना चाहिए। यदि कोई दोष की बात होगी, तो उसका पाप या उत्तरदायित्व उस साधना-गुरु पर पड़ेगा। साधक तो निर्दोष और श्रद्धायुक्त होने से सच्ची साधना का ही फल पाएगा। वाल्मीकिजी उल्टा राम का जप करके भी सिद्ध हो गये थे।

(२४) माला जपते समय सुमेरु (माला के आरंभ का सबसे बड़ा दाना) का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। एक माला पूरी करके उसे मस्तक तथा नेत्रों से लगाकर पीछे की तरह उलटा ही वापस कर लेना चाहिए। इस प्रकार माला पूरी होने पर हर बार उलटकर ही नया आरंभ करना चाहिए।

अपनी पूजा-सामग्री ऐसी जगह रखनी चाहिए, जिसे अन्य लोग अधिक स्पर्श न करें।

अनिष्ट का कोई भय नहीं—

सवालक्ष के अनुष्ठान के अतिरिक्त नौ दिन में चौबीस हजार और एक वर्ष में चौबीस लाख के अनुष्ठान भी होते हैं। आवश्यकतानुसार इन्हें भी किया जा सकता है और गायत्री शक्ति के दिव्य सान्निध्य का लाभ उठाया सकता है। यह उपासना एक नैष्ठिक अभियान है और इसका वैसा ही लाभ होता है, जैसा माँ की गोद में बैठे हुए बालक को अपनी माता से स्नेह-सुख प्राप्त होता है।

गायत्री-साधना की एक विशेषता यह भी है कि उसमें कोई भूल हो जाने पर किसी तरह के अनिष्ट का कोई भय नहीं होता। मंत्रों की साधना एक विशेष विधि-व्यवस्था से होती है। नित्य साधना पद्धति से निर्धारित कर्मकांड के अनुसार मंत्रों का अनुष्ठान, साधन पुरश्चरण करना होता है और यदि उसमें कहीं कोई भूल हो जाती है, तो जो अनुष्ठान साधा है, उससे लाभ के स्थान पर हानि ही होती है। ऐसे कितने ही उदाहरण मिलते हैं कि किसी व्यक्ति ने किसी मंत्र की या देवता की साधना अथवा कोई योगाभ्यास या तांत्रिक अनुष्ठान किया। साधना की नियत रीति में कोई भूल हो गई या किसी प्रकार अनुष्ठान खंडित हो गया तो उसके कारण साधक को भारी विपत्ति में पड़ना पड़ता है। कई आदमी तो पागल तक होते देखे गए हैं। कई को रोग, मृत्यु, धन-नाश आदि का अनिष्ट तक सहना पड़ता है।

ऐसे प्रमाण इतिहास-पुराणों में भी मिलते हैं। वृत्र और इंद्र की कथा इसी प्रकार की है, वेद मंत्रों का अशुद्ध उच्चारण करने पर उन्हें घातक संकट सहना पड़ा था।

अन्य वेदमंत्रों की भाँति गायत्री का भी शुद्ध सस्वर उच्चारण होना विधिपूर्वक साधन होना उचित है। विधिपूर्वक किए हुए साधन सदा शीघ्र सिद्ध होते हैं और उत्तम परिणाम उपस्थित करते हैं। इतना होते हुए भी वेदमाता गायत्री में एक विशेषता है कि कोई भूल होने पर उसका हानिकारक फल नहीं होता। जिस प्रकार दयालु, उदार और बुद्धिमती माता अपने बालकों की सदा हितचिंता करती है, उसी प्रकार गायत्री शक्ति द्वारा भी साधक का हित ही संपादन होता है। माता के प्रति बालक गलतियाँ भी करते रहते हैं, उसके सम्मान एवं पूज्यभाव में बालक से त्रुटि भी रह जाती है और कई बार तो वे उलटा आचरण कर बैठते हैं, इतने पर भी माता न तो उनके प्रति दुर्भाव मन में लाती है और न उन्हें किसी प्रकार की हानि ही पहुँचाती है। जब साधारण माताएँ इतनी दयालुता और क्षमा प्रदर्शित करती हैं तो जगज्जननी, वेदमाता, सतोगुण की दिव्य सुरसरि गायत्री से और भी अधिक आशा की जा सकती है। वह अपने बालकों की अपने प्रति श्रद्धा-भावना को देखकर प्रभावित हो जाती है, बालक की भक्तिभावना को देखकर माता का हृदय उमड़ पड़ता है। उसके वात्सल्य की अमृत निर्झरिणी फूट पड़ती है, जिसके दिव्य प्रभाव में साधना की छोटी-छोटी भूलें, कर्मकांड में अज्ञानवश हुई त्रुटियाँ तिनके के समान बह जाती हैं।

सतोगुणी साधना का विपरीत फल न होने का विश्वास भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में दिलाया है।

नेहाभिक्रम नाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतोभयात्॥

अर्थात्—सत्कार्य के आरंभ का नाश नहीं होता—वह गिरता-पड़ता आगे ही बढ़ता चलता है। उससे उलटा फल कभी नहीं निकलता। ऐसा भी नहीं होता कि सत् इच्छा से किया हुआ कार्य

असत् हो जाए और उसका अशुभ परिणाम निकले। थोड़ा भी धर्म-कार्य बड़े भयों से रक्षा करता है।

गायत्री-साधना ऐसा ही सात्त्विक सत्कर्म है। जिसे एक बार आरंभ कर दिया जाए, तो मन की प्रवृत्तियाँ उस ओर अवश्य ही आकर्षित होती हैं और बीच में किसी प्रकार छूट जाए, तो फिर भी समय-समय पर बार-बार उस साधना को पुनः आरंभ करने की इच्छा उठती रहती है। किसी स्वादिष्ट पदार्थ का एक बार स्वाद मिल जाता है, तो बार-बार उसे प्राप्त करने की इच्छा हुआ करती है। ऐसा ही अमृतोपम स्वादिष्ट आध्यात्मिक आहार है, जिसे प्राप्त करने के लिए आत्मा बार-बार चीख-पुकार करती है। उसकी साधना में कोई भूल रह जाए, तो उलटा परिणाम नहीं निकलता, किसी विपत्ति, संकट या अनिष्ट का सामना नहीं करना पड़ता। भूलों का, त्रुटियों का परिणाम यह हो सकता है कि आशा से कम फल मिले या अधिक-से-अधिक यह कि वह निष्फल चला जाए। इस साधना को किसी थोड़े-से भी रूप में प्रारम्भ कर देने से उसका फल हर दृष्टि से उत्तम होता है। उस फल के कारण उन भयों से मुक्ति मिल जाती है, जो अन्य उपायों से बड़ी कठिनाई से हटाए या मिटाए जा सकते हैं।

इस विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए भागवत के बारहवें स्कंध में नारद जी ने भगवान् नारायण से यही प्रश्न किया था कि आप कोई ऐसा उपाय बतलाएँ जिसे अल्प शक्ति मनुष्य भी सहज में कर सकें और जिससे माता प्रसन्न होकर उनका कल्याण करे। क्योंकि सभी देवताओं की साधना में प्रायः आचार-विचार, विधि-विधान, त्याग-तपस्या के कठिन नियम बतलाए गए हैं, जिनको सामान्य श्रेणी और थोड़ी विद्या-बुद्धि वाले व्यक्ति पूरा नहीं कर सकते। इस पर भगवान् ने कहा—"हे नारद ! मनुष्य अन्य कोई अनुष्ठान करें या न करें, पर एकमात्र गायत्री में ही जो दृढ़ निष्ठा रखते हैं, वे अपने जीवन को धन्य बना लेते हैं। हे महामुनि ! जो संध्या में अर्घ्य देते हैं और प्रतिदिन गायत्री का तीन हजार जप करते हैं, वे देवताओं द्वारा भी पूजने योग्य बन जाते हैं। जप करने से पहले उसका न्यास किया जाता है, क्योंकि शास्त्रकारों का कथन है,

"देवोभूत्वा देवं यजेत्।" अर्थात्—"देव जैसा बनकर देवों का यज्ञ करना। परंतु किसी कठिनाई या प्रभाव से न्यास न कर सके और सच्चिदानंद गायत्री का निष्कपट भाव से ध्यान करके केवल उसका ही जप करता रहे, तो भी पर्याप्त है। गायत्री का एक अक्षर सिद्ध हो जाने से भी उत्तम ब्राह्मण विष्णु, शंकर, ब्रह्मा, सूर्य, चंद्र, अग्नि के साथ स्पर्द्धा करता है। जो साधक नियमानुसार गायत्री की उपासना करता है उसी के द्वारा सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।" इस कथानक से विदित होता है कि इस युग में गायत्री की सात्त्विक और निष्काम साधना ही सर्वश्रेष्ठ है। उससे निश्चित रूप से आत्म-कल्याण होता है।

यह केवल सैद्धांतिक विश्लेषण ही नहीं, वरन् इसके प्रमाण भी मिलते हैं। गायत्री-साधना से अनेक पतितों का उद्धार हुआ है और पाप-कर्मों का विनाश हुआ है।

इस तत्त्व विचार करते हुए हमें यह भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि आत्मा सर्वथा स्वच्छ, निर्मल, पवित्र, शुद्ध, बुद्ध और निर्लिप्त है। श्वेत काँच या पारदर्शी पात्र में किसी रंग का पानी भर दिया जाए, तो उसी रंग का दीखने लगेगा, साधारणतः उसे उसी रंग का पात्र कहा जाएगा। इतने पर भी पात्र का मूल सर्वथा रंग रहित ही रहता है। एक रंग का पानी भर दिया जाए, तो फिर इस परिवर्तन के साथ ही पात्र दूसरे रंग का दिखाई देने लगेगा। मनुष्य की यही स्थिति है। आत्मा स्वभावतः निर्विकार है, पर उसमें जिस प्रकार के गुण, कर्म और स्वभाव भर जाते हैं, वे उसी प्रकार की दिखाई देने लगती है।

गीता में कहा है—"विद्या-विनय संपन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता तथा चांडाल आदि को जो समत्व बुद्धि से देखता है, वही पंडित है।" इस समन्वय का रहस्य यह है कि आत्मा सर्वथा निर्विकार है, उसकी मूल स्थिति में परिवर्तन नहीं होता, केवल मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का अंतःकरण चतुष्टय, रंगहीन-विकारग्रस्त हो जाता है, जिसके कारण मनुष्य अस्वाभाविक, विपन्न, विकृत दशा में पड़ा हुआ प्रतीत होता है। इस स्थिति में यदि परिवर्तन हो जाए, तो आज के दुष्ट का कल

ही संत बन जाना कुछ भी कठिन नहीं है। इतिहास बताता है कि एक चांडाल कुलोत्पन्न भयंकर डाकू बदलकर महर्षि वाल्मीकि हो गया। जीवन भर वेश्यावृत्ति करने वाली गणिका आंतरिक परिवर्तन के कारण परम साध्वी देवियों को प्राप्त होने वाली परमगति की अधिकारिणी हुई। कसाई का पेशा करते हुए जिंदगी गुजार देने वाले अजामिल और सदन परम भक्त कहलाए। इस प्रकार अनेकों नीच काम करने वाले उच्चता को प्राप्त हुए हैं और हीन कुलोत्पन्नों को उच्च वर्ण की प्रतिष्ठा मिली है। रैदास-चमार, कबीर-जुलाहे, रामानुज-शूद्र, षटकोपाचार्य खटीक, तिरवल्लुवर—अंत्यज वर्ण में उत्पन्न हुए थे, पर उनकी स्थिति अनेकों ब्राह्मणों से ऊँची थी। विश्वामित्र क्षत्री ब्राह्मण बने थे।

शास्त्र कहता है कि जन्म से सभी मनुष्य शूद्र पैदा होते हैं। पीछे संस्कार के प्रभाव से द्विज बनते हैं। असल में यह संस्कार ही हैं, जो शूद्र को द्विज और द्विज को शूद्र बना देते हैं। गायत्री के तत्त्वज्ञान को हृदय में धारण करने से ऐसे संस्कारों की उत्पत्ति होती है, जो मनुष्य को एक विशेष प्रकार का बना देते हैं। उस पात्र में भरा हुआ पहला लाल रंग निवृत्त हो जाता है और उसके स्थान पर नीलवर्ण परिलक्षित होने लगता है।

पापों का नाश आत्मतेज की प्रचंडता से होता है। यह तेजी जितनी अधिक होती है, उतना ही संहार का कार्य शीघ्र और अधिक परिमाण में होता है। बिना धार की लोहे की छड़ से वह कार्य नहीं हो सकता जो तीक्ष्ण तलवार से होता है। यह तेजी किस प्रकार आए ? इसका उपाय तपाना और रगड़ना है। लोहे को आग में तपाकर उसमें धार बनाई जाती है और पत्थर पर रगड़कर उसे तेज किया जाता है। तब यह तलवार दुश्मन की सेना का सफाया करने योग्य होती है। हमें भी अपनी आत्मशक्ति तेज करने के लिए इसी तपाने, घिसने वाली प्रणाली को अपनाना पड़ता है—इसे आध्यात्मिक भाषा में 'तप' या 'प्रायश्चित्त' नाम से पुकारते हैं।

अपराधों की निवृत्ति के लिए हर जगह 'दंड' का विधान काम में लाया जाता है। बच्चे ने गड़बड़ की कि माता की डाँट-डपट पड़ी,

शिष्य ने प्रमाद किया कि गुरु ने छड़ी सँभाली। सामाजिक नियमों को भंग किया कि पंचायत ने दंड दिया। कानून का उल्लंघन हुआ कि जुरमाना, जेल, काला पानी या फाँसी तैयार है। ईश्वर दैविक, दैहिक, भौतिक दुःख देकर पापों का दंड देता है। दंड-विधान प्रतिशोध या प्रतिहिंसा मात्र नहीं है। 'खून का बदला खून' की जंगली प्रथा के कारण नहीं, दंड विधान का निर्माण उच्च आध्यात्मिक विधान के आधार पर किया गया है। कारण यह है कि दंडस्वरूप जो कष्ट दिए जाते हैं, उनसे मनुष्य के भीतर एक खलबली मचती है, प्रतिक्रिया होती है, तेजी आती है, जिससे उसका गुप्त मानस चौंक पड़ता है और भूल को छोड़कर उचित मार्ग पर आ जाता है। 'तप में ऐसी ही शक्ति है। तप की गरमी से अनात्म तत्त्वों का संहार होता है।'

दूसरों द्वारा दंड रूप में बलात् तप कराके हमारी शुद्धि की जाती है। उस प्रणाली को हम स्वयं ही अपनाएँ, अपने गुप्त-प्रकट पापों का दंड स्वयं ही अपने को देकर स्वेच्छापूर्वक तप करें, तो वह दूसरों द्वारा बलात् कराए हुए तप की अपेक्षा असंख्य गुना उत्तम है। उसमें न अपमान होता है न प्रतिहिंसा एवं न आत्मग्लानि से चित क्षोभित होता है। वरन् स्वेच्छा तप से एक आध्यात्मिक आनंद आता है, शौर्य और साहस प्रकट होता है तथा दूसरों की दृष्टि में अपनी श्रेष्ठता—प्रतिष्ठा बढ़ती है। पापों की निवृत्ति के लिए आत्मतेज की अग्नि चाहिए। इस अग्नि की उत्पत्ति से दोहरा लाभ होता है—एक तो हानिकारक तत्त्वों का, कषाय-कल्मषों का नाश होता है, दूसरे उनकी ऊष्मा और प्रकाश से दैवी तत्त्वों का विकास, पोषण एवं अभिवर्द्धन होता है, जिसके कारण साधक, तपस्वी, मनस्वी एवं तेजस्वी बन जाता है। हमारे धर्मशास्त्रों में पग-पग पर व्रत, उपवास, दान, स्नान, आचरण-विचार आदि के विधि-विधान इसी दृष्टि से किए गए हैं कि उन्हें अपनाकर मनुष्य इन दोहरे लाभों को उठा सके।

अस्तु ! गायत्री की निर्दिष्ट तप-साधना में सब विधि-कल्याण ही कल्याण है। आत्मोत्कर्ष के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को शास्त्रीय साधना पद्धति से साधना करने का शक्ति भर प्रयत्न करना चाहिए। अकारण भूल करने से क्या प्रयोजन ? अपनी माता अनुचित

व्यवहार भी क्षमा कर देती है, इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति में कुछ ढील या उपेक्षा की जाय। जहाँ तक बन पड़े पूरी-पूरी सावधानी के साथ साधना करनी चाहिए और आत्मकल्याण के पथ पर तीव्र गति से अग्रसर होने के लिए इस आध्यात्मिक पूँजी का अधिकाधिक संचय करना चाहिए।

पाप-निवृत्ति और पुण्य-वृद्धि के लिए चांद्रायण

सुख-सुविधा हर किसी को अभीष्ट है। हर कोई सोचता है कि अनुकूल परिस्थितियाँ मिलेंगी तो अधिक लाभ उठाया जा सकता है। किंतु प्रयत्न करने पर भी बहुधा अनुकूलता मिल नहीं पाती। अभीष्ट सफलता पीछे हटती और दूर भागती जाती है। इन असफलताओं के पीछे मूलतः अपने कौशल और पुरुषार्थ की ही कमी दिखाई देती है। सूक्ति है भी सही कि असफलता मिलने पर यही सोचना चाहिए कि उसे प्राप्त करने के लिए जितने प्रयत्न या पुरुषार्थ की आवश्यकता थी, उसमें कमी रही। असफलता मिलने पर यह विचार किया जाता है कि अगली बार दूने उत्साह और साहस के साथ नया प्रयत्न करना चाहिए। बार-बार असफलताएँ आने पर भी प्रयत्न तब तक जारी रखना चाहिए, जब तक कि सफलता प्राप्त नहीं हो जाए।

अभीष्ट सफलता की प्राप्ति के लिए, पुरुषार्थपरायणता का समर्थन किया जाना चाहिए। नीतिकारों का यही प्रयत्न भी रहा है। इस तरह के प्रतिपादनों की उपयोगिता में जरा भी संदेह नहीं किया जा सकता। किंतु तात्त्विक दृष्टि से जब गंभीरतापूर्वक तथ्यों पर विचार करते हैं तो एक दूसरा पक्ष भी उभर कर आता है। वह यह कि कितने ही लोगों के सामने ऐसे अप्रत्याशित संकट आ खड़े होते हैं, जिनके लिए उन्हें किसी भी प्रकार दोषी नहीं ठहराया जा सकता। उनने ऐसा कोई भी काम नहीं किया, जिससे वह मुसीबत सिर पर टूट पड़ती। दुर्घटनाओं को कौन निमंत्रण देकर बुलाता है ? अनाचारियों के आक्रमण से होने वाली क्षति में किसका, क्या दोष होता है ?

चोर-उचक्के जिस ढंग से लोगों की जेब पर हाथ साफ करते हैं, उसमें लोगों की सामान्य सजगता की कमी नहीं, वरन् कुटिलता के कुचक्र ही प्रधान होते हैं। प्रकृति-प्रकोपों के समान ही कई बार परिस्थितियाँ इतनी प्रतिकूल हो जाती हैं कि उनमें ढूँढ़े से भी कहीं यह पता नहीं चलता कि अपना दोष कहाँ रहा होगा? बहुत खोजने, सोचने, समझने पर कोई कारण समझ में नहीं आता, तो भाग्य का ख़ेल कहकर किसी प्रकार जी हलका कर लेना पड़ता है।

प्रगति-प्रयासों में असफल होने के इस तरह के अपवाद कई बार सामने आते रहते हैं। उसी योग्यता के, उसी मार्ग पर चलने वाले, उसी उपाय का अवलंबन करने वाले दूसरे लोग बाजी जीतते और सफलता पर सफलता प्राप्त करते चले जाते हैं, किंतु कई लोगों के द्वारा पूरी ईमानदारी और समझदारी से किए गए प्रयास बहुत ही स्वल्प परिणाम देते हैं, इसका क्या कारण है ? यदि अपनी ही भूल थी, तो वह भूल क्या थी ? यदि थी तो क्या वह जान-बूझकर की गई ? इन प्रश्नों पर ढूँढ़-खोज करने पर भी कुछ ऐसे तथ्य हाथ नहीं लगते, जिन्हें असफलता का कारण ठहराया जाए, भूल माना जाए और भविष्य में उसे सुधारने का प्रयत्न किया जाय।

कितनी ही बार मनुष्य के सामने आकस्मिक विपत्तियों और दुर्घटनाओं का एक ऐसा कुचक्र सामने आ खड़ा होता है कि उनका कोई कारण ही समझ में नहीं आता। यह सूझ ही नहीं पड़ता कि आखिर संकटों के बरसने का कारण क्या हो सकता है ? व्यक्तियों द्वारा पहुँचाई गई हानि को शत्रुता कहा जा सकता है और शत्रु को नरम करने के लिए ठंडा या गरम उपाय बरता जा सकता है। पर जिस संकट में प्रत्यक्षत: किसी व्यक्ति का हाथ नहीं दीखता, उसके लिए निमित्त का क्या अनुमान लगाया जाय ?

इसका कारण ईश्वर की अव्यवस्था, उसके नियम-विधान में अंधेरगर्दी न कहते बन पड़े, तो फिर दूसरा विकल्प देवी-देवताओं का, ग्रह-नक्षत्रों का प्रकोप सूझता है; फिर भी यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि उन अदृश्य शक्तियों ने ऐसा निर्मम आक्रमण आखिर क्यों किया ? उनका जब कुछ बिगाड़ा ही नहीं गया था, तो उन्हें मनुष्य की तुलना

में अच्छी स्थिति प्राप्त कर लेने पर भी ऐसी निर्दयता का व्यवहार अकारण ही क्यों करना चाहिए था ? शंकाशील मन और भी ऐसे ही बैठे-ठाले अन्य विसंगतियाँ सोचता रहता है। अमुक ने उनके ऊपर जादू मंत्र चला दिया है, तंत्र क्रिया कर दी है। ऐसे लोग तांत्रिकों, जादूगरों और डाकिनों की आशंका करते हैं। यहाँ भी यह प्रश्न उठता है कि जब हमने उनकी कोई हानि नहीं की, तो फिर वे हमें क्यों त्रास देते हैं ? पूजा-उपासना करने वाले, तंत्र-मंत्र जानने वाले को आखिर इतना विचारशील तो होना ही चाहिए कि किसी को अकारण क्षति न पहुँचाएँ। यहाँ कुछ समझ में नहीं आता, तो दूसरा अनुमान लगाते हैं। किसी ने प्रलोभन देकर उनसे ऐसा कराया होगा या वे डराकर कुछ प्राप्त करना चाहते होंगे। दुर्भाग्य जैसी आकस्मिक दुर्घटनाओं के संबंध में प्रायः इसी स्तर के अनुमान लगाए जाते रहते हैं। इतने पर भी तथ्यतः निरर्थक होने के कारण उनसे किसी का वास्तविक समाधान नहीं होता। निदान के लिए ही इन कुकल्पनाओं का सहारा लेने पर भी असमंजस बना ही रहता है। आधे-अधूरे मन में ऐसी विसंगतियाँ बिठाने पर भी चित्त का वास्तविक समाधान नहीं होता। औंधे-सीधे अनुमान हमेशा संदेहास्पद ही बने रहे हैं।

अप्रत्याशित और आकस्मिक दुर्घटनाओं के पीछे प्रायः संचित कर्मों का, सामयिक प्रतिक्रिया का एकाएक बरस पड़ना ही कारण होता है। जलाशय से भाप उठती है—सघन होकर बादल बनती है, बादल हवा के साथ इधर-उधर भ्रमण करते हैं और परिस्थितियाँ उन्हें नीचे उतरने के लिए विवश करती हैं, तो भूमि के समीप आकर वे बरसना आरंभ कर देते हैं। भाप उठने के स्थान और समय की बरसने के स्थान और समय से तुलना की जाए तो दोनों के बीच बहुत दूरी और विसंगति दीखती है। फिर भी जानकारों को यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होती कि एक समय का भाप उठना ही दूसरे समय का घटा बनकर बरसने जैसा है। मनुष्य के प्रारब्ध कर्म अपने परिपाक का समय बीतने पर जब विपत्ति के रूप में बरसते हैं, तो उन्हें दुर्भाग्य या दुर्घटना का नाम दिया जाता है।

मनुष्यकृत पहुँचाई गई हानि को तो शत्रुता, आक्रमण, अत्याचार, प्रतिशोध आदि कहा जा सकता है, पर जिसमें किसी का हाथ ही नहीं है, जो विपत्तियाँ अप्रत्याशित रूप से बरसीं, उन्हें स्रष्टा की अव्यवस्था न मानना हो, तो फिर सुनिश्चित और समाधानकारक उत्तर एक ही हो सकता है—संचित प्रारब्ध कर्मों की प्रतिक्रिया। इसी का प्राचीन ऋषिप्रणीत नाम भाग्य, प्रारब्ध, कर्म, परिपाक आदि है।

तत्काल कर्मफल न मिलने पर भी किसी को यह अनुमान नहीं लगा लेना चाहिए कि परिपाक की अवधि पूरी होने पर भी इसी प्रकार बिना दंड पाए, छुट्टल घूमते रहने का अवसर मिलता रहेगा। अनेकों को जन्म से ही अंधे, अपंग स्थिति में जन्म लेते देखा जाता है। कई मानसिक दृष्टि से अविकसित और विपन्न परिस्थितियों में जकड़े होते हैं। इनमें इनका सामयिक दोष कुछ भी नहीं होता। इसी प्रकार कितने ही कला-कौशल, बुद्धि-चातुर्य, प्रतिभा, सुंदरता, उत्तराधिकारजन्य सुविधा आदि की विशेषताएँ जन्म से ही लेकर आते हैं। इसमें उनके अभिभावकों अथवा परिस्थितियों का श्रेय, सहयोग नहीं, वरन् दैवी अनुग्रह ही काम कर रहा होता है। यह दैवी अनुग्रह और कुछ नहीं, मनुष्य के संचित शुभ-अशुभ कर्म ही होते हैं। दैवी अनुग्रह शब्द का उपयोग करते समय इस स्थान पर प्रारब्ध को ही प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए और उसे ही श्रेय मिलना चाहिए। दुर्भाग्य के दैवी प्रकोप को भी अशुभ प्रारब्ध का परिपाक कहना ही उचित है। देवता स्वेच्छाचार नहीं बरत सकते। अकारण कोप-परितोष करना उनकी सामर्थ्य में ही नहीं है। सृष्टा ने सुनियोजित विधि-व्यवस्था में जब अपने आप तक को कड़े बंधनों में बाँधकर रखा है, तो वह मनुष्यों से लेकर देवताओं तक को अकारण स्वेच्छाचार बरतते रहने की छूट नहीं दे सकता है। देवता भी इस विश्व व्यवस्था का उल्लंघन नहीं कर सकते। आकस्मिक दुर्घटनाओं, विपत्तियों और संकटों के पीछे और कोई नहीं, मात्र मनुष्य के अपने कृत कर्म ही काम कर रहे होते हैं। भाग्योदय के संबंध में भी यही बात है। आकस्मिक उपलब्धियाँ और सफलताएँ वे कहलाती हैं, जो बिना पर्याप्त पुरुषार्थ किए, सहज ही अपनी ओर बढ़ती चली आती

हैं। जबकि प्रबल पुरुषार्थ करने वाले भी अभीष्ट सफलता प्राप्त कर नहीं पाते, तब कितने ही व्यक्ति आशातीत उपलब्धियाँ नाममात्र के प्रयत्न से ही प्राप्त कर लेते हैं। तब इस अप्रत्याशित को संचित प्रारब्ध के अतिरिक्त और नाम नहीं दिया जा सकता।

संचित प्रारब्ध कहें या पूर्वकृत दुष्कर्मों का दंड; उन्हीं के कारण शारीरिक रोग, मानसिक विक्षेप, दरिद्रता, दुर्घटना, अकाल मृत्यु, विपत्ति, संकट आदि अनेकों आपदाएँ आती हैं। उनका कारण मात्र व्यवहार व्यतिक्रम ही नहीं होता, अपितु संचित पाप प्रारब्ध की ही उनके पीछे मुख्य भूमिका रहती है। मरने के उपरांत नरक, प्रेत योनि और निकृष्ट योनियों जैसी जितनी भी दुर्गतियों का उल्लेख शास्त्रों में है, उसका कारण यह कुसंस्कारी संचय ही होता है।

यही बात साधना, आत्मिक विकास के प्रयत्नों में भी लागू होती है। कई बार लंबे समय तक धैर्यपूर्वक प्रयत्न करते रहने पर भी अभीष्ट सफलता नहीं मिलती। वस्तुतः लौकिक सफलताओं को प्राप्त करने के लिए किए गए प्रयास हों अथवा आत्मिक विकास के लिए की जाने वाली साधना ; अपने संचित दुष्कर्म ही उस मार्ग की सफलता में प्रधान रूप से बाधक होते हैं। यदि उनके निराकरण का उपाय संभव हो सके, तो अभीष्ट सफलता सहज ही मिलती चल सकती है। यही बात संचित पुण्य-कर्मों के बहुत देर में फल देने वाली बात पर भी लागू होती है। यदि संचित दुष्कर्मों का निराकरण कर लिया जाय, तो झरने को रोक लेने वाले पत्थर के हटा दिए जाने पर जिस प्रकार रुका हुआ झरना बह निकलता है, उसी प्रकार संचित दुष्कर्मों के पत्थर हटा देने पर पुण्यफलों का प्रवाह बह निकलता है।

संचित दुष्कर्मों के प्रभाव से जिस प्रकार साधना-सत्कर्म लंबे समय तक कोई उल्लेखनीय परिणाम प्रस्तुत नहीं कर पाते, इसका एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग माधव निदान के प्रणेता माधवाचार्य के संबंध में मिलता है। आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रंथ माधव निदान के प्रणेता माधवाचार्य अपने साधना काल में वृंदावन रहते हुए पूरी तन्मयता के साथ गायत्री महापुरश्चरणों में संलग्न थे। उन्होंने संपूर्ण विधि-विधान के साथ पूरे ग्यारह वर्षों तक अपनी साधना जारी रखी;

इतने पर भी उन्हें जब सिद्धि का कोई लक्षण प्रकट होता दिखाई नहीं दिया, तो वे बड़े खिन्न और निराश हुए। इस खिन्नता और निराशा की मनःस्थिति में उन्होंने यह साधनाक्रम आगे चलाने का विचार छोड़ दिया और वृंदावन छोड़कर काशी चले गए।

काशी के गंगातट पर उन्हें एक अघोरी मिला। माधवाचार्य की साधक की वेश भूषा और छाई हुई खिन्नता जानने के लिए वह रुक गया और पूछने लगा। माधवाचार्य ने अपनी व्यथा कह सुनाई। कापालिक ने उन्हें आश्वासन दिया और भैरव-सिद्धि का साधना विधान बताते हुए एक वर्ष में उसके सुनिश्चित सिद्ध हो जाने की बात बताई। माधवाचार्य इससे सहमत हो गये और काशी में मणिकर्णिका घाट पर भैरव की साधना करने लगे। वर्ष पूरा होते-होते भैरव प्रकट हुए और उन्होंने माधवाचार्य से वरदान माँगने की बात कही।

आँखें खोलकर माधवाचार्य ने देखा, तो बोलने वाला कहीं दिखाई नहीं दिया। उन्होंने भैरव से प्रकट होने की प्रार्थना की, इस पर भैरव ने यही कहा कि आप गायत्री उपासक रहे हैं। आपके मुखमण्डल पर इतना ब्रह्मतेज है कि सामने प्रकट होकर मैं अपने अस्तित्व को संकट में नहीं डालना चाहता। यह सुनकर माधवाचार्य असमंजस में पड़ गए। उन्होंने पूछा—"देव ! आप सामने प्रकट नहीं होना चाहते तो कृपा कर यही बता दें कि मेरी इतनी लंबी और निष्ठा भरी उपासना निष्फल कैसे हो गई ?" यह समाधान कर देने पर भी आपकी कृपा पर्याप्त होगी। भैरव ने उनकी इच्छापूर्ति की और पिछले ग्यारह जन्मों का जाति स्मरण कराया, विगत जन्मों के दृश्य दिखाए और बताया कि उनमें कैसे-कैसे पाप-कृत्यों का समावेश है। इसके उपरांत भैरव ने कहा, "आपके एक-एक गायत्री पुरश्चरण से एक-एक जन्म के पाप कर्मों का परिशोधन हुआ है। ग्यारह जन्मों में संचित प्रारब्धों के दुष्परिणाम इन ग्यारह वर्षों के तप-साधन से नष्ट हुए हैं। अब आप नए सिरे से फिर इसी उपासना को करें। संचित प्रारब्ध कर्मों की निवृत्ति हो जाने पर आपको अब अपने प्रयत्नों में सफलता मिलेगी।

भैरव का यह निर्देश प्राप्त कर माधवाचार्य पुनः गायत्री उपासना में प्रवृत्त हुए। बारहवाँ वर्ष पूरा होने पर उन्हें सफलता मिली और उसी साधना के परिणामस्वरूप वह प्रज्ञा प्रकट हुई, जिसके सहारे उन्होंने माधव निदान जैसा ग्रंथ लिखकर अपना यश अमर करने और असंख्य लोगों का हित-साधन करने में सफलता पाई।

प्रस्तुत गाथा से इस तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि साधना की सिद्धि में बाधा क्या है ? संचित दुष्कर्म ही उस मार्ग की सफलता में प्रधान रूप से बाधक होते हैं। अस्तु, साधना मार्ग में सफलता के लिए संचित दुष्कर्मों का निराकरण और शुभ कर्मों का परिपाक दोनों ही आवश्यक हैं। संचित दुष्कर्मों के परिणाम ही दुर्भाग्य के रूप में सामने आते हैं और शुभ कर्मों के सत्परिणाम सौभाग्यप्रद स्थितियाँ विनिर्मित करते हैं।

कहा जा सकता है कि मनुष्य के संचित कर्म ही भले या बुरे भाग्य का रूप धारण करके सामने आते हैं। या कहा जा सकता है कि संचित कर्मों का कालांतर में मिलने वाला परिणाम ही भाग्य है। वह कार्य इस जन्म के भी हो सकते हैं और कुछ पिछले के भी। संचित कर्म अपना निज उपार्जन एवं संग्रह हैं। उनमें परिवर्तन करना अपने वश में नहीं है। कर्म का फल निश्चित है, पर उसकी दिशाधारा मोड़ी जा सकती है। उसका निराकरण और समाधान भी हो सकता है। विष खा लेने पर भी नव-उपचार द्वारा मरण संकट से बचाव हो सकता है, तो कोई कारण नहीं कि प्रारब्धजन्य संभावनाओं में सुधार एवं हेर-फेर क्योंकर संभव न हो।

स्मरणीय है कि कर्मों का फल भोगना निश्चित होने पर भी उसके निराकरण और निवारण के उपाय हो सकते हैं। ऐसे उपायों को धर्मशास्त्रों में प्रायश्चित्त की संज्ञा दी गई है। ब्रह्मवर्चस् साधना में प्रायश्चित्त-पूर्वकृत पाप कर्मों के निवारण, निराकरण का भी प्रावधान है, ताकि आत्मिक प्रगति के पथ पर सफलता और सुदृढ़तापूर्वक बढ़ता रह सके। प्रायश्चित्त का अर्थ गिड़गिड़ाना या सस्ते मोल में विधि-विधान से बच निकलना नहीं, वरन् क्षतिपूर्ति करना है। दुष्कर्मों से अपने अंतःकरण को, विचार संस्थान को पाप

कर्मों में तथा दुष्प्रवृत्तियों से भर दिया गया था, उसी साहस और प्रयास के साथ अपनी अंतरंग चेतना के परिष्कार की प्रक्रिया को प्रायश्चित्त कहा गया है।

ब्रह्मवर्चस् की, आत्म तेज की, ब्रह्मबल की प्राप्ति के लिए अपने कषाय-कल्मषों का निराकरण उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार कपड़े पर रंग चढ़ाने के लिए उसे साबुन से धोना और साफ करना। कपड़े को धोया, साफ न किया जाए तो उस पर कोई रंग चढ़ ही नहीं सकता, उसी प्रकार बिना कषाय-कल्मषों को धोए, कुसंस्कारों का निष्कासन किए ब्रह्मवर्चस् जैसी आध्यात्मिक उपलब्धि प्राप्त करना संभव नहीं है। आगे कुकर्म नहीं किए जाएँगे, दोष-दुर्गुणों को प्रश्रय नहीं दिया जाएगा, दुष्प्रवृत्तियाँ नहीं अपनाई जाएँगी, यह तो ठीक है; पर पीछे जो कुसंस्कारी प्रवृत्तियाँ प्रबल रही हैं, जो अनैतिक और अवांछनीय कर्म किए जा चुके हैं, उनके जो संस्कार विद्यमान हैं, उनका क्या किया जाए ? उनके निष्कासन का एक ही उपाय है और वह है प्रायश्चित्त।

यों भी कर्मफल के सिद्धांत के अनुसार किए गए दुष्कर्मों का फल मिलना सुनिश्चित है। यह बात अलग है कि उसके फलित होने में थोड़ा विलंब हो जाए। परंतु उसके टल जाने की बिलकुल भी संभावना नहीं है। कर्मफल अकाट्य और सुनिश्चित है। स्वेच्छापूर्वक किए गए दुष्कर्मों का दंड भुगत लिया जाए, प्रायश्चित्त के रूप में उनका निवारण-निराकरण कर लिया जाए, तो इसमें सदाशयता, साहसिकता तो है ही, सरलता भी है। चोर को राजदंड कड़ा मिलता है, पर यदि वह अपने दोष स्वीकारने और चुराई गई वस्तु वापस लौटाने का साहस कर सके, तो कड़े राजदंड की अपेक्षा कम, त्याग करने से काम चल सकता है, साथ ही निंदा और घृणा के स्थान पर दूसरों का सद्भाव- सम्मान भी मिल सकेगा। जो पाप या दुष्कर्म बन पड़ा है, वह छोड़े हुए तीर की तरह वापस नहीं लौट सकता। किंतु यह उपाय पीछे भी संभव रहता है कि प्रायश्चित्त करके उस दंड भार को हलका कर लिया जाए। इसका एक लाभ तो प्रत्यक्ष ही है। पाप कर्मों के कारण अंतःकरण पर चढ़ा हुआ दुराव और

आत्मग्लानि का भार हल्का हो जाता है। इसीलिए भारतीय मनीषियों ने आत्मशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त को एकमात्र उपाय बताया है।

पाप कर्मों से स्वयं को आत्मग्लानि और आत्मा को प्रताड़ना तो सहनी ही पड़ती है, समाज को भी कम क्षति नहीं पहुँचती। किए गए दुष्कर्मों से समाज के सामान्य मर्यादा प्रवाह में व्यवधान उत्पन्न होता है। कई लोग उससे कुमार्ग पर चलने के लिए प्रेरित व उत्साहित होते हैं। जिन्हें क्षति पहुँचती है, वे विलाप करते हैं और उससे वातावरण विक्षुब्ध हो उठता है। पाप कर्म द्वारा जो क्षति पहुँचती है, वह ऐसे-ऐसे अनेकानेक कारणों से केवल व्यक्ति को ही नहीं पहुँचती, अपितु पूरे समाज को पहुँचती है। समाज को, विश्वमानव को ही विराट् ब्रह्म और परमात्मा का व्यापक स्वरूप कहा गया है। यह एक प्रकार से सीधा परमात्मा पर ही आक्रमण करना, उन्हें आघात पहुँचाना और उन्हें रुष्ट करने जैसा है।

उचित तो यही है कि भूलों को तुरंत सुधार लिया जाए और दोबारा अवांछनीयता न बन पड़े, ऐसी योजना बना ली जाए। देर तक जमा रहने पर गंदगी की सड़न अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है। विजातीय द्रव्य शरीर में जितनी अधिक देर तक ठहरेगा, उसी अनुपात से बढ़ता जाएगा और सामान्य रोगों की अपेक्षा असाध्य बीमारी उत्पन्न होने की संभावना बढ़ती जाएगी। दुष्कर्मों के परिणामस्वरूप अपने मन में उत्पन्न हुई आत्मग्लानि यदि बहुत देर तक टिकी रहे, तो उसकी प्रतिक्रिया भी ऐसी ही और इससे भी भयंकर हो सकती है। अस्तु, इस जन्म के विदित और स्मृत पापों से लेकर जन्म-जन्मांतरों तक के पापों का निराकरण आवश्यक है। उन्हें निकालना और निरस्त करना आवश्यक है। जहर खा लेने की गलती से होने वाले दुष्परिणाम का परिमार्जन केवल वमन-विरेचन जैसे पेट और आँतों की धुलाई जैसे उपायों से ही संभव हो सकता है। उसके साथ भी यह शर्त जुड़ी हुई है कि वह उपचार तुरंत और तत्काल किया जाना चाहिए। प्राण-संकट उसी से टल सकता है। उसी प्रकार किए गए पाप कर्मों का निष्कासन, निवारण और निराकरण प्रायश्चित्त

द्वारा ही संभव होगा। प्रायश्चित्त ही परिशोधन का एकमात्र उपाय है।

दुष्कर्मों के जो प्रतिफल संग्रहीत हो गए हैं और उनके कारण प्रारब्ध एवं भाग्य विधान में जो गड़बड़ी उत्पन्न होती है, उसे सुधारने या सरल बनाने का एकमात्र विधान प्रायश्चित्त का ही है। प्रायश्चित्त का एक सुविस्तृत तत्त्वज्ञान और सुनिश्चित विधि-विधान है। यों सस्तेपन की बचकानी घुसपैठ ने इस क्षेत्र को भी अछूता नहीं छोड़ा है और प्राचीन विधि-विधानों को ओछी और बचकानी नकलें बनाकर उस महान् प्रयोजन को भी उपहासास्पद ही बना दिया गया है। जबकि वस्तुतः प्रायश्चित्त विधान का वजन किए गए पाप कर्म के फलस्वरूप मिलने वाले दंड के बराबर ही जा पहुँचता है। अंतर रहता भी है तो उन्नीस-बीस का। विवश होकर दंड सहना पड़े और स्वेच्छया स्वीकार कर लिया जाए, इसमें जितना अंतर होता है, जितनी छूट मिल सकती है, उसी के अनुसार प्रायश्चित्त का विधान किया जाता है।

भूल स्वीकार करने, किए का पश्चात्ताप करने और भविष्य में वैसा न करने की भावभरी मनःस्थिति, अपराधी मनोवृत्ति में परिवर्तन का चिह्न है। यह चिह्न ही पाप दंड को हलका करने का प्रधान आधार होता है। इसके उपरांत क्षतिपूर्ति का प्रश्न आता है। जो हानि पहुँचाई गई है। अनाचरण से अंतःकरण को कलुषित और वातावरण को दूषित करने का जो अपराध बन पड़ा है, उसकी क्षतिपूर्ति दो प्रकार से हो सकती है। एक तो अनाचार का जितना गहरा गड्ढा खोदा गया है, उसे पाटा जाए अर्थात् वर्तमान परिस्थितियों में जितनी क्षतिपूर्ति करना संभव रह गया है, उसे पूरा किया जाए। इसके अतिरिक्त अंतःकरण पर उन कुकर्मों के जो कुसंस्कार जमें हों, उन्हें कुछ नए पुण्य-कर्म करके सुसंस्कारों की नई स्थापना की जाए। ऐसे सुसंस्कार जिनका श्रेष्ठ प्रभाव नए सिरे से अंतःकरण पर जमे और मलिनता की संचित परतों को हटा सकने में समर्थ बन सके। यही नीति अपनाकर समाज को पहुँचाई गई क्षति पूरी हो सकती है। इन सब तत्त्वों का सम्मिश्रण प्रायश्चित्त विधान है। उसमें वे सब सिद्धांत

बीज रूप में विद्यमान हैं ,जो अशुभ भाग्य विधान को काट सकने में, अंधकारमय भविष्य की विभीषिका को निरस्त करने में समर्थ हो सकते हैं। इसी में शालीनता, सज्जनता और साहसिकता है। उसी स्तर का सत्साहस जुटाने वाला अपनी संचित दुष्प्रवृत्ति के विरुद्ध विद्रोह करते हुए उसके उन्मूलन में जुट जाने का साहस कर सकते हैं। अतएव उसका परिणाम परिवर्तनकारी, सुधारपरायण एवं मंगलमय सिद्ध होता है।

शास्त्रों में पाप निवृत्ति और पुण्य प्रवृत्ति के दोनों उद्देश्य पूरे करने के लिए चांद्रायण तप को सबसे उपयुक्त विधान बताया गया है। यों धर्मशास्त्रों में अनेकों प्रकार के प्रायश्चित्त विधान बताए गए हैं, पर उनमें चांद्रायण-तप को प्रमुखता दी गई है। इसके दो पक्ष हैं, एक परिशोधन और दूसरा परिवर्द्धन। इस साधना से संचित पाप प्रवृत्तियों और कुसंस्कारों का जहाँ शमन होता है, वहीं आत्मोत्कर्ष के लिए प्रबल प्रयत्नों का भी साथ-ही-साथ नियोजन होता चलता है। ये दोनों ही कृत्य चांद्रायण साधना से पूरे होते हैं।

प्रायश्चित्त के जितने भी विधान हैं, उन सबमें उपवास को प्रधानता दी गई है। गीता में उपवास से विषय निवृत्ति होने की बात कही गई है। लिप्सा और लालसा, लोभ और मोह, वासना और तृष्णा ही वह कारण है, जिनसे दुष्कर्म बन पड़ते हैं। इन्हीं आंतरिक दुष्ट उभारों को विषय-वासना कहा गया है। विषयों की निवृत्ति के लिए उपवास का कठोर अनुशासन अपनाना पड़ता है। कहना नहीं होगा कि मन की प्रवृत्तियों के निर्माण में अन्न ही बीजरूप होता है। अन्न मनुष्य का प्रमुख आहार है, उसे आहार का पर्याय भी कहा जा सकता है। आहार की सात्त्विकता से मन को शांत और संस्कारी बनाने में सफलता मिलती है। यह सारी प्रक्रिया उपवास की मर्यादा के अंतर्गत आती है। प्रायश्चित विधान का प्रथम चरण यही है।

इसके अगले चरण और भी हैं जिनमें पाप का प्रकटीकरण, दूसरों को पहुँचाई गई क्षति की पूर्ति इनमें से प्रमुख है। जो कुछ किया गया था, उन दुष्कर्मों की भविष्य में पुनरावृत्ति न हो, इसका विधान भी दंड-प्रक्रिया के अंतर्गत आ जाता है। यह प्रायश्चित्त का

एक पक्ष है। दूसरा पक्ष श्रेष्ठता की साधना का है अर्थात् जो कुसंस्कार हटाए गए थे, उनका रिक्त स्थान नए सुसंस्कारों से भरा जाए। इस पुण्य विधान को रचनात्मक प्रयोजनों में लगाया जा सके।

चांद्रायण तप कई प्रकार के निर्दिष्ट किए गए हैं, पर उनकी क्रिया-प्रक्रिया लगभग एक समान है। चांद्रायण के मोटे विधान इस प्रकार हैं—

एकैकं ह्रासयेत्पिंडं कृष्णे, शुक्ले च वर्द्धयेत्।
इन्दुक्षयेन भुंजीथ एवं चांद्रायणो विधि॥

—वसिष्ठ

अर्थात्—"पूर्णमासी को पूर्ण भोजन करके एक-एक ग्रास घटाते चलें। चंद्रमा न दीखने पर अमावस्या और प्रतिपदा को निराहार रहे। पीछे एक-एक ग्रास बढ़ाकर शुक्ल पक्ष के १४ दिनों में पूर्ण आहार तक पहुँच जाए।" ग्रास परिमाण के झंझट से बचने के लिए यह आवश्यक है कि कृष्ण पक्ष में पूर्णिमा को लिए गए आहार का चौदहवाँ अंश घटाते चला जाए और शुक्ल पक्ष में उसी अनुपात से हर दिन बढ़ाते चला जाए। चांद्रायण व्रत में उपवास के अतिरिक्त अन्य नियमो पनियम इस प्रकार हैं—

नदीसंगमतीर्थेषु शुचिर्देशे अरण्यके।
ब्रह्मचारी सदा शांतोजितक्रोधो जितेन्द्रियः॥
अचिन्त्य चिंतनं त्यक्तवा सत्हितमितभाषणम्।
सन्ध्य योऽस्तुं जपेन्नित्यं गायत्री ध्यानपूर्वकम्॥

—आपस्तंब

अर्थात्—नदी, संगम, तीर्थ, पवित्र स्थान पर, वन प्रदेश में निवास, ब्रह्मचर्य पालन, शांतचित्त, जितेंद्रिय, क्रोध रहित, अचिंत्य चिंतन का परित्याग, सत्य, हित और स्वल्प भाषण, दोनों समय ध्यानपूर्वक गायत्री का जप यह नित्य नियम रखे।

अग्निपुराण में कहा गया है—

नित्यस्नायी मिताहारी गुरुदेवद्विजार्चकः।
पवित्राणि जपे चैव जुहुयाच्चैव शक्तितः॥

व्रीहिणाष्टिक मुद्गाश्च गोधूम सतिलायवाः ।
चरुभैक्ष्यं सतुवणाः शावांघृत दर्धिपयः ॥

अर्थात्—नित्य स्नान करे, भूख से कम खाए, गुरुदेव, ब्रह्मपरायण विद्वान् जनों का अभिवादन करे, पवित्र रहे, जप करे और हवन करे। जौ, चावल, मूँग, गेहूँ, तिल, हविष्यान्न, सत्तू, शाक, दूध-दही-घृत पर निर्वाह करे।

उपवास और तप नियमों के बाद पापों का प्रकटीकरण चांद्रायण तप का अगला चरण है। इस प्रक्रिया का एक स्वरूप तो मुण्डन कराने, बाल कटवाने के रूप में प्रतीक चिह्न की तरह है। प्रत्यक्ष प्रकटीकरण सत्पात्र के सम्मुख ही हो सकता है। सार्वजनिक घोषणा कर सकने का किसी में साहस हो तो और भी अच्छा है, पर इस प्रकटीकरण में यह ध्यान आवश्यक है कि व्यभिचार जैसी प्रक्रियाओं में साथी का नाम-पता आदि प्रकट न किया जाए। पापों के प्रकटीकरण की विधा पूरी करने के लिए मनुस्मृति में कहा गया है—

यथा यथा नरोऽधर्म स्वयं कृत्वाभाषते।
तथा तथा त्वचेवाहि स्तेनाधर्मेणमुच्यते ॥

—मनुस्मृति २२९

अर्थात्—जैसे- जैसे मनुष्य अपना अधर्म लोगों में ज्यों-ज्यों प्रकट करता है, वैसे-वैसे ही वह अधर्म से उसी प्रकार मुक्त होता है जैसे सर्प से केंचुली।

पाराशर स्मृति में कहा गया है—

कृत्वा पापं न गूहेत् गुह्यमानं विवर्द्धते।
स्वल्पं वाथ प्रभूत्तं वा धर्मविद्भ्यो निवेदयेत् ॥६ ॥
ते हि पापे कृते वेद्या हन्तारश्चैव पाप्मनाम्।
व्याधितस्य यथा वेद्या बुद्धिमंतो रूजोपहाः ॥७ ॥

"पाप कर्म बन पड़ने पर उसे छिपाना नहीं चाहिए, छिपाने से वह बढ़ता है। पाप छोटा हो या बड़ा, उसे किसी धर्मज्ञ से अवश्य प्रकट कर देना चाहिए। इस प्रकार उसे प्रकट कर देने से पाप उसी

तरह नष्ट हो जाते हैं, जैसे चिकित्सा करा लेने पर रोग नष्ट हो जाते हैं।

दुष्कर्मों के कितने ही बुरे प्रभाव अंतःक्षेत्र पर पड़ते हैं। वे कुकृत्य चेतना की गहराई में पहुँचकर कुसंस्कारों के रूप में जड़ जमाकर बैठ जाते हैं और इसकी गरिमा को नष्ट करते रहते हैं। उनके दुष्परिणाम भी समय-समय पर आधि-व्याधि और आकस्मिक दुर्घटनाओं के रूप में सामने आते रहते हैं। मनःशास्त्र के अनुसार मनोभूमि के अंतःक्षेत्र को क्षत-विक्षत करने वाला सबसे बड़ा कारण है—दुराव। दुष्कर्मों को करते समय भी आदमी को छल करना पड़ता है। वस्तुस्थिति जान लेने पर तो आक्रमण सफल ही नहीं होगा। इसके बाद राजदंड तथा समाजदंड से बचने के लिए कुकृत्यों को छिपाकर रखा जाता है, उन्हें किसी पर प्रकट न होने देने की सावधानी बरती जाती है। किंतु यह दुराव मन में तो विद्यमान रहता ही है, वह हजम कहाँ होता है। पारा खा लेने पर वह पचता नहीं। ठीक इस प्रकार कुकृत्यों का दुराव भी अनेकों प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग उत्पन्न करता और अनेक तरह से आजीवन कष्ट देता रहता है।

प्रकटीकरण न कर देने तथा प्रायश्चित्त द्वारा उनका परिशोधन न किया जाने तक अंतर्द्वंद्व बना ही रहता है। इसलिए जो कुकृत्य बन पड़ें, उनका परिशोधन आवश्यक है। पर यह प्रकटीकरण होना उन्हीं के सामने चाहिए जो इतने उदार हैं कि चिकित्सक की करुणा से अपराधों को धैर्यपूर्वक सुन सकें और बिना मन में क्षोभ लाए उन्हें अपने भीतर पचा सकें, प्रकट करने वाले की निंदा न होने दें। उसे प्रकटीकरण के कारण लोकनिंदा के द्वारा होने वाली क्षति न पहुँचने दे। वरन् उसे स्नेहपूर्वक सत्परामर्श देकर सुधारने में सहायता करे। ऐसे व्यक्ति जब तक न मिलें तब तक प्रकटीकरण नहीं करना ही उचित है। ईसाई धर्म में मरने से पूर्व पाप स्वीकृति का वर्णन (कनफेशन) आवश्यक धर्मकृत्य माना जाता है। मरणासन्न व्यक्ति एकांत में पादरी के सामने जीवन भर के अपने सारे पापों को विस्तारपूर्वक बताता है और जी हलका करता है। पादरी को पिता

कहते हैं, उसमें करुणा रहती है। वह धैर्य और शांतिपूर्वक उसे सुनाता तथा ईश्वर से क्षमा-प्रार्थना करता है। न उसके मन में घृणा होती है और न औरों पर प्रकट करने की क्षुद्रता का परिचय देना उसके उपयुक्त होता है।

किए गए पापों का प्रायश्चित्त करने में पश्चात्ताप कर्म की पूर्ति व्रत-उपवास से, शारीरिक कष्ट सहने से, तितिक्षा कृत्यों से होती है। फिर भी क्षतिपूर्ति का प्रश्न तो सामने रहता ही है। इसके लिए पुण्य कर्म करने होते हैं ताकि पाप के रूप में जो खाई खोदी गई थी, वह पट सके और पुण्य तथा पाप का पलड़ा बराबर हो सके। दुष्प्रवृत्तियों को सत्प्रवृत्तियों से पाटा जा सकता है, इसलिए दुष्कर्म करके जो हानि पहुँचाई गई, समाज में भ्रष्ट आचरण की जो परम्परा चलाई गई, उसको तभी निरस्त किया जा सकता है जबकि सत्प्रवृत्तियों का संवर्द्धन करने वाले पुण्य-कर्म करके उनकी पूर्ति की जाए। समाज को सुखी और समुन्नत बनाने वाली सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्द्धन को आवश्यक समझा जाए। इसके लिए समय, श्रम एवं मनोयोग लगाया जाए। प्राचीन काल में धर्म प्रचार के लिए पदयात्राओं का प्रचलन इसी उद्देश्य से किया गया था, ताकि जीवन में जाने-अनजाने दुष्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने में जो योग बन पड़ा है, उससे हुई क्षति को सत्प्रवृत्तियों के प्रोत्साहन द्वारा पूरा किया जा सके।

आज के समय में भी यदि इस परंपरा के वास्तविक स्वरूप को समझते हुए धर्म प्रचार के लिए पदयात्राएँ की जाएँ, तो वह स्वयं में भी एक श्रेष्ठतम प्रयास हो सकता है। जो घटना घट चुकी है, वह किसी प्रकार अनहोनी तो हो नहीं सकती। अस्तु कुकर्मों से हुई क्षति की पूर्ति इसी में है कि लगभग उतने ही वजन के सत्कर्म किए जाएँ। व्यभिचारजन्य पापों का प्रायश्चित्त यही है कि नारी को हेय स्थिति से उबराने के लिए, उसे समर्थ एवं सुयोग्य बनाने के लिए जितना प्रयास-पुरुषार्थ बन पड़े, उसे लगाने के लिए सच्चे मन से प्रयत्न किया जाए। आर्थिक अपराधों का प्रायश्चित्त यह बताया गया है कि अनीति से उपार्जित धन उसके मालिक को लौटा दिया जाए अथवा सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के श्रेष्ठ कामों में उसे लगा दिया जाए।

अर्थदान को प्रायश्चित्त विधान का आवश्यक अंग इसलिए माना गया है कि अधिकांश पाप, अर्थ-लोभ से किए जाते हैं और उतने न्यूनाधिक मात्रा में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में भौतिक लाभ उठाने का उद्देश्य रहता है। यह अनीति-उपार्जित धन अपने लिए और अपने परिवार वालों के लिए कई बार भयंकर विपत्तियाँ उत्पन्न करता है। भले ही तत्काल उससे कोई कमाई होने या सुविधा मिलने जैसा लाभ ही क्यों न प्रतीत होता हो ! अत: उसके कारण कई विपत्तियाँ आती हैं। जो धन कमाया गया है, उसे तो दबाकर रखा जाए और मात्र व्रत-उपवास जैसी लकीर पीटकर घड़ियाली आँसू बहा दिए जाएँ, तो उससे कुछ नहीं बनेगा।

व्रत-उपवास तो अनीति अपनाने से आत्मा पर चढ़ी कषाय-कल्मषों की परत धोने के लिए हैं। क्षतिपूर्ति का प्रश्न उससे कहाँ हल हुआ ? वह तो फिर भी अपनी जगह ज्यों-का-त्यों विद्यमान रहा। अस्तु, जो अनीति बरती जा रही है, उसकी हानि को भर पाने, पूरा करने का उदार साहस जुटाना चाहिए। उसी से प्रायश्चित्त कर्म का 'इष्टापूर्ति' प्रकरण पूरा हो सकता है। घटनाओं की क्षतिपूर्ति दंड सहने और जो क्षति हुई है, उसे किसी प्रकार पूरा करने से ही होती है। रेल दुर्घटना आदि होने पर मरने वालों को सरकार अनुदान आदि देती है। उसमें क्षतिपूर्ति के लिए आर्थिक प्रावधान को भी एक उपाय माना गया है। प्रायश्चित्त विधानों में क्षतिपूर्ति की दृष्टि से दान को महत्व दिया गया है। दानों में गौदान, अन्नदान, उपयोगी निर्माण आदि के लिए उपाय सुझाए गए हैं। जिनसे ये उपाय जिस मात्रा में बन पड़ें, उन्हें उतनी ही मात्रा में करना चाहिए। कुछ भी न बन पड़े तो श्रमदान, सत्कर्मों में योगदान तो किसी-न-किसी रूप में हर किसी के लिए संभव हो सकता है। शास्त्र का निर्देश है—

सर्वस्वदानं विधिवत्सर्वपापविशोधनम् ॥३४.९४॥

—कूर्मपुराण

अर्थात्—अनीति से संग्रह किए हुए धन को दान कर देने पर ही पाप का निवारण होता है।

दत्त्वैवापहृतं द्रव्यं धनिकस्याध्युपापतः ।
प्रायश्चित्तं ततः कुर्यात् कल्मस्यपानुत्तये ॥

—विष्णु स्मृति

अर्थात्—जिसका जो पैसा चुराया हो उसे वापस करे और वह चोर कर्म का प्रायश्चित्त करे ।

वापसी संभव न हो या आवश्यक न हो, तो अनीति-उपार्जित साधनों का बड़े-से-बड़ा अंश श्रेष्ठ सत्कर्मों में लगा देना चाहिए । आचार्य बृहस्पति के अनुसार उपवास तथा दान दोनों अन्योन्याश्रित हैं । **"उपवासस्तथा दान कर्मों अन्योन्याश्रित ।"** अर्थात् प्रायश्चित्त में उपवास की तरह दान भी आवश्यक है । दोनों एक दूसरे के साथ परस्पर जुड़े हुए हैं ।

प्राज्ञः प्रतिगृह्य कृत्वा तद्धनं सद्गतिं न येत् यज्ञद्वा पतितोद्धार पुण्यात् न्याय रक्षणेवापी कूप तडागेषु ब्रह्म कर्म समत्सृजेत् ।

—अरुण स्मृति

अर्थात्—'अनुचित धन जमा हो तो उसे यज्ञ, पतितोद्धार, पुण्यकर्म, न्याय रक्षण, बावड़ी, कुआँ, तालाब आदि का निर्माण एवं ब्रह्मकर्मों में लगा दें । अनुचित धन की सद्गति इसी प्रकार होती है । ब्रह्मकर्मों में सत्साहित्य वितरण, विद्यादान, वृक्षारोपण, कुआँ, तालाब, देवालय आदि का निर्माण, यज्ञ, दुखियों की सेवा, अन्याय-पीड़ितों के लिए संघर्ष आदि अनेक शुभ कर्मों में क्षति की पूर्ति के रूप में अधिक-से-अधिक उदारतापूर्वक दान देने का विधान है । इस दान शृंखला में गोदान को विशेष महत्त्व दिया गया है । गो की गरिमा को शास्त्रों में अत्यधिक महत्त्व दिया गया है । इसलिए गो दान की महिमा बताते हुए प्रायश्चित्त व्रतों के साथ उसे भी जोड़कर रखा गया है ।

चांद्रायण व्रत में उपवास, प्रकटीकरण, इष्टापूर्ति के अलावा गौ संपर्क भी जुड़ा हुआ है । इस तपश्चर्या के अनेक कार्य ऐसे हैं, जिनमें गौ को किसी-न-किसी प्रकार साथ लेकर चलना पड़ता है । मुँह में कोई अन्य वस्तु जाने से पहले चांद्रायण व्रतकर्ता को 'पंचगव्य' ग्रहण

करना होता है। इसके उपरांत ही अन्य कोई वस्तु मुँह में जानी चाहिए। पंचगव्य गाय के दूध, दही, घृत, गोमूत्र, गोमय के सम्मिश्रण को कहते हैं। उसमें तुलसी पत्र और गंगाजल भी मिलाया जाता है। इस संदर्भ में शास्त्रों का निर्देश है—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
निर्दिष्टं पंचगव्यन्तु पवित्रं पापनाशनम्॥

—पराशर स्मृति (२१-२६)

अर्थात्—यह चांद्रायण व्रत समस्त पापों का शमन करने वाला है। कामनाओं को पूर्ण करने वाला है। उसे आरंभ करते हुए शरीर को पंचगव्य से पवित्र बनाना चाहिए।

इस तपश्चर्या में, व्रत के आहार में हविष्यान्न की प्रधानता रहनी चाहिए। हविष्यान्न—जौ, तिल, चावल आदि के सम्मिश्रण को कहते हैं। इनमें से जौ को गोमूत्र के साथ विशेष रूप से संस्कारित किया हुआ होना चाहिए। गोमूत्र में जौ भिगोए जाएँ। वे उस संस्कार को ग्रहण कर लें, तब उन्हें सुखाकर पीसा जाए, दलिया या रोटी बनाई जाए।

चांद्रायण व्रत की पूर्णाहुति में गोदान का विधान है। उसे भी प्रायश्चित्त प्रक्रिया का एक अंग बनाया गया है। जिनके लिए गोदान संभव न हो, वे गोग्रास भी दान कर सकते हैं अथवा शरीर से गोसेवा का श्रम कर सकते हैं। इस प्रकार चांद्रायण व्रत के साथ संपर्क अविच्छिन्न रूप से जुड़ा रखा गया है।

शास्त्रकारों ने प्रायश्चित्त की तप-साधना में, पाप निवृत्ति और पुण्य वृद्धि के दोनों प्रयोजनों के लिए तीर्थयात्रा को भी सम्मिलित किया है। तीर्थयात्रा का मूल उद्देश्य धर्म प्रचार के लिए की गई पद-यात्रा। दूर-दूर क्षेत्रों में जन-संपर्क साधने और धर्मधारणा को लोकमानस में हृदयंगम करने का श्रमदान तीर्थयात्रा कहलाता है। श्रेष्ठ सत्पुरुषों के सान्निध्य में प्रेरणाप्रद वातावरण में रहकर आत्मोत्कर्ष का अभ्यास करना भी तीर्थयात्रा कहलाता है। तीर्थ का तात्पर्य है—तरना। अपने साथ-साथ दूसरों को भी तारने वाले

प्रयासों को तीर्थ कहते हैं। प्रायश्चित्त विधान में तीर्थयात्रा की आवश्यकता बताई गई है। आजकल तीर्थयात्रा का जो स्वरूप प्रचलित है, वह मात्र देवालयों के दर्शन और नदी सरोवरों के स्नान आदि तक ही सीमित रहता है। इतने मात्र से तीर्थयात्रा का उद्देश्य पूरा नहीं होता। सत्प्रवृत्तियों के संवर्द्धन हेतु की गई पदयात्रा ही वास्तविक तीर्थयात्रा है। शास्त्रकारों ने इसी का महत्त्व बताया है और गुणगान किया है।

किए गए पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए तो चांद्रायण एक श्रेष्ठ तप है ही, पुण्य-वृद्धि के लिए किए जाने वाले तप अनुष्ठानों में भी उसका शीर्ष महत्त्व है। स्वास्थ्य-संवर्द्धन और रोगोपचार—आरोग्यशास्त्र की इन दो धाराओं के समान अध्यात्म के भी दो पक्ष हैं—आत्मबल की वृद्धि और कषाय-कल्मषों का निष्कासन। जप, स्वाध्याय, चिंतन, मनन, स्मरण, ध्यान, तितिक्षा, तप कष्ट सहन जैसे क्रिया-कलाप इन्हीं प्रयोजनों की पूर्ति के लिए किए जाते हैं। इन्हें योग और तप, दर्शन और व्यवहार, ज्ञान और कर्म कुछ भी कहा जा सकता है। मूल प्रयोजन, आत्मबल की वृद्धि और कषाय-कल्मषों का निष्कासन है। इन विषयों का विवेचन करने के लिए अनेक शास्त्र लिखे गए हैं और कई मनीषी इसके लिए प्रस्तुत रहते हैं। लेकिन कठिनता एक ही रहती है कि उस प्रतिपादन में इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता है कि किन परिस्थितियों में, किस समय, किस मनःस्थिति के व्यक्ति को कौन-से उपाय अपनाने चाहिए? प्राचीनकाल में लिखे गए शास्त्रों में जो विधि-विधान मिलते हैं, वे उस समय की परिस्थितियों के अनुरूप थे। आज की परिस्थितियाँ भिन्न हैं, उस भिन्नता को ध्यान में रखते हुए परंपरा और सामयिकता का समन्वय होना चाहिए, यही उपयुक्त है।

इसके बिना प्राचीनकाल की परिस्थितियों के अनुरूप बनाए गए, निर्धारित किए गए विधि-विधानों को अक्षरशः निभा पाने में व्यावहारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती रहेंगी और उन कठिनाइयों का निराकरण किए बिना लकीर भर पीटने की प्रवंचना चलती रहेगी। इस स्थिति में चांद्रायण का सरल और व्यावहारिक स्वरूप निर्धारित

कर उसका अनुष्ठान, अभियान इन दिनों ब्रह्मवर्चस् साधना के अंतर्गत कराया जा रहा है। यों ब्रह्मवर्चस् साधना में चांद्रायण व्रत की तपश्चर्या के अलावा उच्चस्तरीय गायत्री उपासना का समन्वय भी किया गया है। चांद्रायण व्रत की तपश्चर्या और पंचकोशी उच्चस्तरीय गायत्री उपासना से परिशोधन तथा अभिवर्द्धन के दोनों ही उद्देश्य पूरे होते हैं। शरीर और मन को समर्थ तथा सुव्यवस्थित रखने में, प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदलने में तथा समग्र परिवर्तन परिष्कार में जो अदृश्य तथ्य काम करते हैं, उन सबका समुचित समावेश इस एक महीने के साधना-क्रम में सम्मिलित है।

प्रारब्धवश, पूर्वकृत दुष्कर्मों के कारण जो संकट आ गए अथवा जिनके आने की संभावना है, उनका पूर्व निराकरण करने के लिए उसी स्तर की रोक-थाम की जा सकती है। उस उपचार प्रक्रिया में तपश्चर्या ही एकमात्र उपाय है। इन तपश्चर्याओं में सरलता और प्रमुखता चांद्रायण साधना को ही दी गई है। यह एक प्रबल पुरुषार्थ है जिसकी गरमी से कुसंस्कारों को जलाना और बीज रूप में विद्यमान सुसंस्कारों को विकसित कर सकना संभव हो सकता है। चांद्रायण किसी की मनुहार नहीं है और न ही किसी देवता को प्रसन्न करके सस्ते मोल में बड़े वरदान पाने की विडंबना है। इसे विशुद्ध विज्ञान, समस्त प्रयास, पुरुषार्थ कहा जा सकता है और यह आशा की जा सकती है कि उससे प्रारब्ध विधान में आवश्यक उलट-पलट किया जा सकना संभव है। जब गोली से घायल हुए लोगों की जान बचाई जा सकती है और प्लास्टिक सर्जरी करके उनके अवयवों को सुंदर बनाया जा सकता है, तो कोई कारण नहीं कि विधि के विधान को, सृष्टि के उच्चस्तरीय सिद्धांतों को अपनाकर उनमें आवश्यक हेर-फेर न किया जा सके। कर्म विधान को, प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदलने के लिए चांद्रायण जैसी तपश्चर्याओं के जो आदेश शास्त्रकारों ने दिए हैं, वे तथ्य तथा अनुभवों पर ही आधारित हैं।

चांद्रायण व्रत की सौम्य साधना विधि

तपश्चर्या को साधना का प्रधान अंग माना गया है। क्योंकि उससे संचित कषाय-कल्मषों का निराकरण होता है और सुसंस्कारों को फलित होने का अवसर मिलता है। पिछले पृष्ठों में बताया जा चुका है कि संचित दुष्कर्म ही साधना की सफलता में प्रधान रूप में बाधक होते हैं। यदि उनका निवारण, निराकरण किसी उपाय से संभव हो सके, तो अभीष्ट सफलता सहज ही मिलती चली जाएगी। यही बात संचित पुण्य कर्मों के बहुत देर में फल देने वाली व्यवस्था में जल्दी भी हो सकती है। द्रुतगामी वाहनों पर सवार होकर पैदल चलने से देर में संपन्न होने वाली यात्रा अपेक्षाकृत कहीं जल्दी पूरी की जा सकती है। हमारे वर्तमान प्रयत्न ही सब कुछ नहीं होते, उनमें संचित सत्संग्रहों का भी योगदान होता है। उनका योगदान मिलने से भी सफलताओं का परिणाम स्वल्प प्रयत्न से भी इतना अधिक हो सकता है कि आश्चर्यचकित रह जाना पड़े।

तपश्चर्या द्वारा संचित संग्रहों से अशुभ का निराकरण और शुभ-सुखद कर्मों का, दोनों का ही शीघ्र परिपाक होने का उद्देश्य पूरा होता है। तपश्चर्या शब्द तप से बना है। तप कहते हैं गरमी को, ऊष्मा को, गरमी के लिए अग्नि शब्द का प्रयोग भी किया जाता है। अग्नि से दो काम होते हैं, एक जलाना, नष्ट करना और दूसरे शक्ति-सामर्थ्य को असंख्य गुना बढ़ा देना। धातुओं में मिली हुई विकृतियाँ, उन्हें भट्ठी में डालने से जलकर नष्ट हो जाती हैं। कूड़े-कचरे को आग लगा देने से उसकी सड़न, दुर्गंध से छुटकारा मिल जाता है। इसके अतिरिक्त यह गरमी ही शक्ति बनकर भी काम करती है। ठंडी बारूद को विस्फोटक बनाने का काम चिनगारी ही करती है। पानी को वह द्रुत गति से घसीटती चली जाती है। तेल की शक्ति में परिणत करने का काम भी आग ही करती है। बिजली भी आग का एक स्वरूप है। अणु विस्फोट से निकलने वाले विकरण भी अग्नि से ही होते हैं। शरीर को जीवित रखने और अवयवों के संचालन में जठराग्नि ही काम करती है। सूर्य से लेकर चूल्हे तक

अग्नि का ही सर्वत्र साम्राज्य छाया हुआ है। पदार्थ में हलचल और प्राणों में चिंतन की जो सामर्थ्य काम करती दिखाई देती है, उसे अग्नि के ही भेद-उपभेदों के अंतर्गत गिना जा सकता है। इसी अग्नि का एक नाम आतप है। अध्यात्म क्षेत्र में उसके उत्पन्न करने की पद्धति का नाम तप है। तपस्वी ही ओजस्वी, तेजस्वी और मनस्वी कहलाते हैं। ये सभी शब्द 'शक्ति मंत्रों' के प्रतीक हैं। प्रकाश अग्नि का ही गुण है। प्रकाश को जीवन के अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाता है और ब्रह्म को ज्योति के रूप में ध्यान करने तथा उसका विवेचन-वर्णन करने की परंपरा है।

तपश्चर्या को साधना का प्रधान अंग माना गया है। उससे संचित कषाय-कल्मषों का निराकरण होता है और सुसंस्कारों को फलित होने का अवसर मिलता है। प्रगति के प्रधान अवरोध अशुभ प्रारब्ध के निराकरण की प्रक्रिया प्रायश्चित्त कहलाती है। इसे तप-साधना का प्रथम लक्ष्य माना गया है। संचित अशुभ से पीछा छूट सके—निराकरण-समाधान हो सके—तो उसका परिणाम साधन की सफलता में अत्यधिक सहायक हो सकता है। इसी प्रकार यदि प्रार्थना-पूजा की साधना के साथ तपश्चर्या का समावेश हो सके, तो उसके अधिक अच्छी तरह फलित होने का अवसर रहता है। विलासिता और शिथिलता की स्थिति में रहकर उपासना करने वालों की तुलना में तपश्चर्या की रीति-नीति अपनाकर भजन प्रयोजनों में लगने वाले व्यक्ति अपने लक्ष्य तक अधिक अच्छी तरह जा पहुँचते हैं।

न केवल अध्यात्म-क्षेत्र में वरन् भौतिक जीवन में भी यही सिद्धांत काम करता है। रक्त विकार जैसे रोगों को दूर करने के लिए कुशल वैद्य पेट की सफाई करने के उपरांत अन्य रक्त शोधक उपचार करते हैं। कायाकल्प चिकित्सा में बलवर्द्धक औषधियों का नहीं, संचित मलों का निष्कासन करने वाले उपायों को ही प्रधान रूप से कार्यान्वित किया जाता है। वमन, विरेचन, स्वेदन आदि क्रियाओं द्वारा मल निष्कासन का ही प्रयास किया जाता है। इसमें जितनी सफलता मिलती जाती है, उसी अनुपात से जराजीर्ण रोगग्रस्त व्यक्ति भी

आरोग्य लाभ करता और बलिष्ठ बनता चला जाता है। कायाकल्प चिकित्सा का विज्ञान इसी सिद्धांत पर आधारित है।

दोष-दुर्गुणों के रहते चिरस्थायी प्रगति के पथ पर चल सकना किसी के लिए भी संभव नहीं हुआ है। फूटे बरतन में दूध दुहने से पल्ले कुछ नहीं पड़ता। पशु पालने और दुहने का श्रम निरर्थक चला जाता है। कषाय-कल्मषों से—दोष-दुर्गुणों से लड़ने के लिए जो संघर्ष-पुरुषार्थ करना पड़ता है, उसी के विधि-विधानों को तप-साधन कहते हैं। तपश्चर्या का तत्त्वदर्शन आत्मशोधन की इसी आवश्यकता को पूरी करने के लिए गढ़ा गया है। उसका उद्देश्य देवताओं के सम्मुख दृढ़वादिता अपनाकर मनोकामना पूरी करने का दुराग्रह ठानना नहीं, वरन् आत्मशोधन के सहारे अपनी पात्रता का संवर्द्धन करता है। गड्ढा जितना गहरा होता है, पात्र जितना बड़ा होता है, उसी अनुपात से वर्षा का जल उसमें जमा होता चलता है।

आंतरिक सत्पात्रता का संवर्द्धन करने के लिए तप-साधना को ही उपाय-उपचार बताया है। चिड़िया की छाती की गरमी पाकर ही अंडे पकते हैं। पौधों को विकसित होने और फूलने-फलने में गरमी का कितना बड़ा योगदान होता है, इसे किसान और माली भली भाँति जानते हैं। जप का समानांतर शब्द तप है। बोलचाल की भाषा में प्रायः जप-तप दोनों को मिलाकर बोलने का रिवाज है। ब्रह्मवर्चस् अभियान में तप-साधना को प्रमुखता दी गई है। 'वर्चस्' शब्द ही तप का पर्यायवाची है। उपासनाओं के साथ कई प्रकार की छोटी-बड़ी तप-साधनाओं की शृंखला जोड़ी गई है। उसकी आधार-शिला चांद्रायण व्रत पर रखी गई समझी जा सकती है। यह संचित कुसंस्कारों के परिशोधन और प्रसुप्त दिव्य शक्तियों के जागरण के लिए शरीर और मन के सुविस्तृत क्षेत्र में अनुकूल वातावरण उत्पन्न करता है। भगीरथ ने गंगा अवतरण के लिए कई प्रकार के उपासना-उपचार किए थे। गंगा आराधना और शिव अभ्यर्थना की साधना वे लंबे समय तक करते रहे और अपने उद्देश्य में सफल होकर रहे, पर यह सफलता तभी हाथ लगी, जब

उपासना-उपचार के साथ तपश्चर्या की अग्नि-शक्ति का उसमें समावेश हो सका। यदि वे मात्र पूजा-आराधना ही करते रहते और तप के कष्ट साध्य झंझट से बचकर रहना चाहते, तो उन्हें उससे अधिक कुछ भी न मिलता, जो शिव मंदिरों और गंगा मंदिरों के पुजारियों को नगण्य-सा प्रतिफल उपलब्ध होता है।

ब्रह्मवर्चस् साधना में सन्निहित चांद्रायण तपश्चर्या का अभ्यास एक प्रकार से प्रखरता के उत्पादन का जीवन दर्शन है। उसे अपनाने वाला न केवल आत्मिक क्षेत्र की सफलताओं का अधिकारी बनता है, वरन् भौतिक क्षेत्र में भी, लोक-व्यवहार में भी उसकी सफलताएँ दूसरों की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी हो सकती हैं। इसलिए वह न केवल आत्मिक प्रगति के इच्छुकों के लिए, वरन् भौतिक समर्थता प्राप्त करने के उत्सुकजनों के लिए भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है।

कहा जा चुका है कि दुष्कर्मों के कारण चित्त पर जमे हुए कुसंस्कारों की मोटी परतें ही आत्मिक प्रगति के क्षेत्र में सबसे बड़ी बाधा उत्पन्न करती हैं। उन्हें हटाना चाहिए और उन्हें हटाने के लिए जिन विधि-विधानों, उपायों का अवलंबन लिया जाता है, उन्हें परिशोधन कहते हैं। आत्मिक प्रगति के लिए अभिवर्द्धन, आत्मविकास और परिशोधन, आत्मशोधन दोनों ही आवश्यक हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे खेती के लिए बीजारोपण से पूर्व भूमिशोधन की आवश्यकता पड़ती है। अच्छी तरह जोतना, भूमि के कंकड़-पत्थर हटाना, खरपतवार उखाड़ना, नमी रखना, खाद देना जैसे कई काम करके भूमि को इस योग्य बनाया जाता है कि उसमें बोया हुआ बीज ठीक उसी तरह उग सके। अंकुरों को बढ़ने और फलने-फूलने की स्थिति में पहुँचने के लिए उपयुक्त परिस्थिति की आवश्यकता होती है। यदि उसके बनाने में आनाकानी की गई है और जल्दी फसल कमाने के लोभ में भूमिशोधन का श्रम निरर्थक समझा गया है, तो उसे भूल ही कहा जाएगा। जो आरंभ में तो श्रम बचाने की बुद्धिमत्ता समझा गया था, पर पीछे उसमें बीज भी गँवा बैठने की निराशा ही हाथ लगती है।

आत्म शोधन आत्मिक प्रगति की साधना का पूर्वार्द्ध है और आत्म विकास-उत्तरार्द्ध। उपासनाएँ आत्म विकास का प्रयोजन पूरा करती हैं। इसके लिए योगाभ्यास वर्ग के अनेकानेक विधि-विधानों का प्रचलन है। अपनी रुचि, आवश्यकता और परंपरा के अनुसार उनमें साधक चुनाव करते हैं और प्रगति का उपक्रम आरंभ करते हैं, यह उत्तरार्द्ध है। यह भुला नहीं दिया जाना चाहिए कि उत्तरार्द्ध से लाभ पाने के नए आधार और नए दृश्य तो सामने आते हैं, कुछ पाने की आशा तो बँधती है, पर पूर्वार्द्ध की उपेक्षा करके यह छलाँग प्रायः असफल ही होती देखी गई है। पूरी असफलता का सामना नहीं भी करना पड़े, तो भी उसका प्रतिफल इतना स्वल्प-सा दिखाई देता है, जो आरंभ में सोचे या बताए गए माहात्म्य की तुलना में बहुत ही कम होता है और साधक का मन विषाक्त कर देता है।

जबकि होना यह चाहिए कि विकास-प्रयासों का उत्तरार्द्ध अपनाने के साथ-साथ पूर्वार्द्ध का परिशोधन पक्ष भी ध्यान में रखा जाए। इसी का नाम तप-साधना है। इसके कई प्रकार हैं, जिन्हें अपनाने से मनोभूमि की कुसंस्कारिता हटती है और अंतःस्थिति उर्वर बनती है। यह भूमिशोधन है, जिसमें अंकुर उपजाने जैसे उत्साहवर्द्धक दृश्य तो तत्काल सामने नहीं आते, पर दूरदर्शिता के सहारे निकट भविष्य में अभीष्ट सफलता मिलने का आश्वासन अवश्य मिलता है। अस्तु, साधना की सनातन परंपरा में आत्म शोधन की तपश्चर्या की भी उतनी ही आवश्यकता और महत्ता बताई गई है, जितनी कि उपलब्धियों की झलक दिखाने वाली योग-साधनाओं की। अदूरदर्शिता की भूमि की उखाड़-पछाड़ बेकार लगती है और अंकुर उपजाना या पौध लगाना प्रत्यक्ष लाभदायक दीखता है। इतने पर भी तथ्य तो तथ्य ही रहेंगे। शोधन की उपेक्षा करके उपार्जन की उतावली अंततः निराशाजनक ही सिद्ध होती है।

उपयुक्त मार्ग यही है कि साधना विज्ञान को सही रीति से अपनाया जाय। उचित मूल्य चुकाकर महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त करने के सिद्धांत पर विश्वास किया जाए। उपासनात्मक प्रक्रिया अपनाने के साथ या उससे भी पहले आत्म शोधन की महत्ता और

आवश्यकता समझी जाए। प्रगति के प्रयासों में उसे अनिवार्य रूप में सम्मिलित रखा जाए। योग और तप दोनों एक-दूसरे के पूरक और अन्योन्याश्रित हैं। इन्हें धुलाई और रँगाई की उपमा दी जा सकती है। तप को धुलाई और योग को रँगाई कहा जा सकता है। मैले, कुचैले, चिकनाई और गंदगी से सने कपड़े पर कोई भी रंग नहीं चढ़ता और रंग का पैसा एवं रँगाई का श्रम निरर्थक चला जाता है। इसी प्रकार साधना-मार्ग पर चलते हुए आत्मिक प्रगति के साथ जुड़ी अति महत्वपूर्ण सफलताएँ जिन्हें सिद्धियों या विभूतियों के नाम से जाना जाता है—प्राप्त कर सकना तभी संभव हो सकता है, जब आत्म शोधन और आत्म विकास की दोनों ही प्रतिक्रियाएँ समानांतर चलती रहें।

उपासना को योग पक्ष कहते हैं। उसकी विधि-व्यवस्था में जप, ध्यान, प्राणायाम, नाद, मुद्रा, बंध, प्रत्याहार, समाधि आदि प्रौढ़ स्तर के पूजा-पाठ, स्नान, देवदर्शन, कथा, कीर्तन जैसे बाल स्तर के अनेकानेक उपचारों का समावेश है। आत्मा को परमात्मा से जोड़ने वाली, क्षुद्रता को महानता के साथ संबद्ध करने वाली, व्यवहार में आदर्श भर देने वाली और जीवात्मा को परमात्मा बना देने वाली यह समस्त गतिविधियाँ योग कहलाती हैं। योग का अर्थ है—जोड़ना। अपूर्ण को पूर्ण के साथ जोड़ना। योग-साधना को—उपासना प्रक्रिया को आत्मिक प्रकृति का उत्तरार्द्ध कहते हैं।

परिशोधन को तपश्चर्या कहते हैं—इस प्रकरण में अपनी अवांछनीय आदतों और मान्यताओं को उलटने के लिए अंतःक्षेत्र में जमी कुसंस्कारिता से संघर्ष करना पड़ता है और आदर्श पालन के लिए कष्ट-कठिनाई को जान-बूझकर आमंत्रित करना और हँसते-हँसते सहना होता है। इसी स्तर के हलके-भारी क्रिया-कलापों को तपश्चर्या कहते हैं। व्रत, उपवास, ब्रह्मचर्य, मौन, अभ्यस्त सुविधाओं का परित्याग, मितव्ययता एवं सादगी का वरण, सत्कार्यों के लिए श्रमदान एवं साधनों का अंशदान इसी वर्ग में आते हैं। परमार्थ के लिए किए जाने वाले सभी पुण्य-प्रयास इसी श्रेणी में गिने जा सकते हैं। स्वयं कष्ट सहकर उस बचत का लाभ दूसरों को देने

के समस्त उपचारों को तपश्चर्या की श्रेणी में सम्मिलित किया गया है।

आत्मिक प्रगति के लिए की जाने वाली साधना के लिए योग और तप के सिद्धांतों का समावेश अनिवार्य नहीं है। आवश्यकता तो हर किसी के लिए है और बनी ही रहेगी। कौन, कितना कर सकता है ? किसके लिए कितना कर सकना सरल या कठिन पड़ता है ? इस आधार पर नित्य कर्म के रूप में उपासना का नित्य नियम बनाना दूसरी बात है। इसे उच्चस्तरीय साधना-क्रम में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। साधना का उच्चस्तरीय आधार अगला है, जिसके लिए इन दिनों विशेष रूप से प्रयत्न किया जा रहा है।

यों चेतना को परिष्कृत करके भौतिक संपत्तियों की तुलना में लाखों गुना अधिक महत्त्वपूर्ण विभूतियों के उपार्जन के लिए बहुत समय से समझाया और उकसाया जाता रहा है, पर अब उसके लिए अधिक आग्रह किया जा रहा है। आत्म विकास की निर्दिष्ट उच्चस्तरीय साधना, जिसका नामकरण ब्रह्मवर्चस् किया गया है, का मूल उद्देश्य मनुष्य के भीतर दबी हुई विशेषताओं एवं विभूतियों को उभारना है। लघु को विभु, तुच्छ को महान्, पुरुष को पुरुषोत्तम, नर को नारायण बनाने की योजना एवं संभावना इसमें सन्निहित है। मनुष्य को वर्तमान स्थिति में नहीं रहना है, उसे अपने गौरव के अनुरूप ऊँचा उठना है, यही देवत्व का उदय है।

ब्रह्मवर्चस् साधना में व्यक्ति का वर्चस्व और आत्मिक प्रगति निश्चित रूप से होती चलती है, इसके साथ ही समाज का भविष्य भी समान रूप से समुन्नत बनता है। व्यक्ति में महानता और समाज में सुसंपन्नता का एक साथ उद्भव होता है। लेकिन यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि परिवर्द्धन से पूर्व आत्मशोधन आवश्यक है। चांद्रायण तप आत्मशोधन की यह आवश्यकता भली भाँति पूरी करता है। इस तप-अनुष्ठान का विधि-विधान शास्त्रों में विस्तार से मिलता है। इसके दर्शन और व्यवहार पक्ष का विवेचन एवं मार्गदर्शन प्रस्तुत करने वाले अनेक शास्त्र एवं व्यक्ति प्रायः उपलब्ध रहते हैं। लेकिन इनमें कठिनाई एक ही रहती है कि देश, काल एवं

पात्र का ध्यान रखा जाता है। शास्त्रों में विधि-विधानों का उल्लेख मिलता है। वे प्राचीन काल की मनःस्थिति और परिस्थिति के अनुरूप होते हैं। आज की परिस्थितियाँ प्राचीनकाल की परिस्थितियों और उस समय के लोगों की मनःस्थिति से भिन्न हैं। उस भिन्नता को ध्यान में रखते हुए परंपरा और सामयिकता का समन्वय होना चाहिए। ब्रह्मवर्चस् साधना में यही किया गया है और चांद्रायण व्रत का ऐसा ही स्वरूप निर्धारित किया गया है।

ब्रह्मवर्चस् साधना में पंचकोशीय योग-साधना, उच्चस्तरीय गायत्री उपासना और चांद्रायण व्रत का समावेश रखा गया है। आरंभ के रूप में यह सत्र चल पड़े हैं और उनका समय चांद्रायण व्रत से संगति बिठाते हुए भारतीय कलेंडर के अनुसार पूर्णिमा से पूर्णिमा तक रखा गया है। एक महीने की इस अवधि में चांद्रायण व्रत के अतिरिक्त सवालक्ष का पुरश्चरण, पंचकोशों के अनावरण की पाँच साधनाएँ और कुंडलिनी जागरण का प्रारंभिक चरण भी पूरा कराया जाता है।

चांद्रायण व्रत की पुण्य-प्रक्रिया के पाँच प्रमुख भाग हैं।— (१) महीने भर तक आहार घटाने-बढ़ाने वाला उपवास, (२) गुप्त पापों का प्रकटीकरण, (३) आंतरिक परिवर्तन कर सकने वाले और वातावरण में निवास और अनुशासन का प्रतिपालन, (४) अंतःकरण को परिष्कृत करने वाला योगाभ्यासयुक्त तप साधन और (५) दुष्कर्मों की क्षतिपूर्ति और पुण्यवर्द्धन की परमार्थपरायणता। इन पाँचों प्रक्रियाओं को पूरा करने से चांद्रायण व्रत संपन्न होता है। केवल एक महीने का उपवास ही चांद्रायण नहीं है। एक महीने की निर्धारित ब्रह्मवर्चस् साधना में इन पाँचों का समन्वय है।

उपवास—पूर्णिमा से पूर्णिमा तक एक महीने का उपवास रहता है। पूर्णिमा को पूरा भोजन करके उसका चौदहवाँ अंश प्रतिदिन घटाया जाता है। इसके बाद पूर्ण आहार का चौदहवाँ भाग बढ़ाते हुए पूर्णिमा को पूर्ण आहार तक पहुँचना होता है। अनभ्यस्त लोगों को शिशु चांद्रायण कराया जाता है और मनस्वी लोगों को, अति दुर्बल शरीर और कमजोर मनःस्थिति के लोगों को यह चांद्रायण

कठिन पड़ता है, इसलिए इस अवधि में शाक और दूध या छाछ बढ़ाते रहकर संतुलन बनाए रहने की सुविधा रखी गई है। हविष्यान्न की एक रोटी को प्रसाद चरु माना गया है, इससे भी कुछ आधार बना रहता है। हविष्यान्न में प्रयुक्त होने वाले जौ, गोमूत्र में भिगोकर सुखाए और संस्कारित्र किए जाते हैं। इस प्रकार की विशिष्ट विधि से बने हुए आहार पर ही अपने चौबीस पुरश्चरण पूरे हुए थे। लगभग उसी स्तर के आहार का समावेश ब्रह्मवर्चस् साधना सत्र में गायत्री की उच्चस्तरीय साधना करने वालों को मिलता रहे, इसका विशेष प्रबंध रखा गया है।

साधना की अवधि में मात्र गंगा जल पीना होता है। गंगा अति निकट है। वहीं से अपने पीने के लिए सभी साधक स्वयं गंगा जल लाते हैं और उसी से प्यास बुझाते हैं। युवाओं के लिए नित्य गंगा स्नान में भी कोई कठिनाई नहीं पड़ती। वृद्धों को शीत ऋतु में गंगा जल गरम करके स्नान की भी सुविधा रहती है। नित्य प्रातःकाल पंचगव्यों का पान करना होता है। इसके उपरांत ही अन्य कोई पेय या भोजन मुख में जा सकता है। हविष्यान्न (तिल, जौ और चावल) से बनी एक रोटी—प्रसाद चरु के रूप में तथा अमृत कल्प में आध्यात्मिक अष्ट वर्ग सम्मिलित रहता है। यह आहार स्वास्थ्य-संवर्द्धन के लिए शारीरिक कायाकल्प जैसा प्रयोग है। पंचगव्य सेवन, गोमूत्र से संस्कारित हविष्यान्न का आहार आदि के माध्यम से गौ संपर्क भी सधता रहता है।

दूसरे प्रकरण में गुप्त पापों का प्रकटीकरण मात्र ब्रह्मवर्चस् के कुलपति के सम्मुख ही किया जाता है। इस प्रकार चित्त की भीतरी परतों पर जमी हुई दुराव की जटिल ग्रंथियों को खोला जाता है। मानसिक रोगों के निराकरण का, चित्त में दबी हुई कुसंस्कारों की परतों को कुरेदने, खरादने का यह बहुत ही उत्तम उपचार है। जो किया जा चुका उसके परिमार्जन के लिए भी इसी प्रकटीकरण का अंग है। शीर्ष संस्कार इसी प्रयोजन के लिए है। पूर्ण मुंडन तो नहीं कराया जाता, पर बाल थोड़े छोटे अवश्य हो जाते हैं, जिसका तात्पर्य है संचित दुष्ट विचारों का परित्याग। बच्चों का मुंडन संस्कार भी

जन्म-जन्मांतरों की पशु-प्रवृत्तियों को मस्तिष्क में से हटाने के उद्देश्य से ही किया जाता है। बाल छाँटने के अतिरिक्त गोमूत्र, गोमय आदि मंत्र विधान सहित शीर्ष संस्कार किया जाता है। साधक अनुभव करता है कि इस धर्मकृत्य के साथ-साथ उसके मनःसंस्थान में भी अति महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहा है।

चांद्रायण में तीर्थ सेवन का भी महत्त्व है। तीर्थ सेवन का उद्देश्य उच्च वातावरण में निवास करना ही है। वातावरण का मनुष्य पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। व्यक्तित्व के परिवर्तन-प्रयास में वातावरण का परिवर्तन आवश्यक माना गया है। ब्रह्मवर्चस् साधना सत्रों में वातावरण के प्रभाव की वैसी समुचित व्यवस्था की गई है। संरक्षण, परिमार्जन और अभिवर्द्धन के तीनों उद्देश्य पूरे करने वाली त्रिवेणी यहाँ विद्यमान है। दिनचर्या में स्वाध्याय, सत्संग, मनन और चिंतन के चारों तत्त्व गुँथे हुए हैं। शारीरिक और मानसिक संयम के लिए अनुशासन की कठोर विधि-व्यवस्था का पालन करना पड़ता है। प्रवचन और परामर्श का दैनिक लाभ भी मिलता रहता है। साधकों को अपनी दिनचर्या इतनी अनुशासित और व्यवस्थित रखनी पड़ती है कि उस क्रम के अनुरूप जीवन ढल जाए, तो भविष्य में अपने आप को सर्वतोमुखी प्रगति में सहायक बनने वाली संभावनाएँ और उसके अनुरूप ढाँचा अपने आप बनने लगता है। अपने व्यक्तित्व में इस प्रकार के अभिनव क्रांतिकारी परिवर्तन के रूप में वातावरण का प्रभाव केवल रहने के समय तक ही नहीं, अपितु निरंतर अनुभव होता रहता है।

अंतःकरण और व्यक्तित्व को परिष्कृत बनाने के लिए व्यक्तित्व को दैवी संस्कारों से संस्कारित करने के लिए चांद्रायण व्रत के साथ-साथ योगाभ्यास और तप-साधन भी करना पड़ता है। एक महीने के इन सत्रों में सवालक्ष का एक गायत्री पुरश्चरण और पंचमुखी गायत्री का—पंचकोशों के अनावरण का योगाभ्यास भी सम्मिलित है। सवालक्ष का पुरश्चरण और पाँच कोशों के अनावरण की साधना अनिवार्य रूप से करनी होती है। गायत्री यज्ञ में भी

नित्य-नियमित रूप से सम्मिलित होना होता है। जप और ध्यान के अतिरिक्त त्राटक, सूर्यवेधन, प्राणायाम, खेचरी मुद्रा, सोऽहम् साधना एवं शक्तिचालिनी प्रक्रिया भी योग-साधना में समाविष्ट है। इन साधनाओं का चेतना के क्षेत्र में पाँच प्राणों का और काया क्षेत्र के पाँच तत्त्वों का परिष्कार होने के साथ जीवन में अभिनव प्राण-संचार होता है। शास्त्रों में इन साधनाओं के समुच्चय को पंचीकरण योगाभ्यास तथा पंचाग्नि तपश्चर्या कहा है। सर्वसाधारण के सध सकने जितना दबाव ही इस एक महीने के साधन-क्रम में सम्मिलित किया गया है। गायत्री की पंचमुखी साधना में पंचकोशों के अनावरण का ग्रंथिवेधन का रहस्य विधान इन्हीं पाँचों साधनाओं के अंतर्गत आ जाता है।

चांद्रायण तप में दुष्कर्मों से समाज को हुई क्षतिपूर्ति का विधान भी है। शास्त्रीय भाषा में इसे इष्टापूर्ति कहा गया है। पापों की क्षतिपूर्ति एवं पुण्य संपदा की अभिवृद्धि के लिए चांद्रायण व्रत की पूर्णाहुति के रूप में कुछ अवांछनीयताओं का परित्याग और कुछ परमार्थों को अपनाने का संकल्प करना होता है। संग्रह का अंशदान, तीर्थयात्रा के रूप में धर्म प्रचार का श्रमदान, पुण्य-प्रयोजनों में सहकार, सत्सृजन में योगदान जैसे कुछ ऐसे कदम उठाने के लिए परामर्श दिया जाता है, जिनके सहारे अंतःकरण पर परिवर्तन को व्यवहार में उतारने की छाप प्रत्यक्ष परिलक्षित होने लगे। चांद्रायण तपश्चर्या का उद्देश्य आंतरिक कायाकल्प है। यह कल्पना-क्षेत्र तक ही सीमित न रह जाए, वरन् व्यवहार में भी परिलक्षित होने लगे, इसके लिए कुछ क्रियात्मक कदम उठाने के लिए वैसा परामर्श मिलता है, जो प्रस्तुत परिस्थितियों में सरलतापूर्वक शक्य हो सके। उपलब्ध सुसंस्कार परिपक्वता के लिए, दूसरों के सम्मुख परिवर्तन का प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए कुछ साहसिक कदम उठाने पड़ते हैं। यही चांद्रायण की पूर्णाहुति है।

चांद्रायण व्रत की यह साधना कही भी की जा सकती है। किंतु गंगा की गोद, हिमालय की छाया, सप्तऋषियों की तपस्थली का वातावरण इसके लिए सर्वोत्तम है। शांतिकुंज-ब्रह्मवर्चस् आरण्यक

को प्राणवान् गायत्री तीर्थ बनाए रहने के लिए नित्य यज्ञ, नियमित जप, अखंड दीप एवं ब्रह्मसंपर्क की दिव्य धाराओं से जोड़कर रखा गया है। दिव्य माता-पिता और गुरु का सान्निध्य ब्रह्मा, विष्णु, महेश की उपस्थिति जैसा लगता है। इन सब विशेषताओं के रहते हुए उपयुक्त परिस्थितियों में चल रहा चांद्रायण व्रत ब्रह्मवर्चस् साधकों के लिए उपयुक्त प्रभाव उत्पन्न करेगा, ऐसा सहज विश्वास किया जाता है।

प्रस्तुत ब्रह्मवर्चस् साधना-क्रम में चांद्रायण व्रत का जो स्वरूप निर्धारित रखा गया है, वह अति सुगम होने के साथ-साथ लाभ की दृष्टि से भी अनुपम है। पूर्वकृत पापों के प्रायश्चित्त के रूप में इसे शास्त्रों ने अनुपम तथा आत्मशक्ति के जागरण के लिए अति महत्त्वपूर्ण माना है। इन उद्देश्यों के साथ-साथ उपवास प्रक्रिया में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समन्वय इसे कल्प-चिकित्सा जैसा हितप्रद बना देता है। काय संस्थान का एक प्रकार से ओवरहालिंग हो जाने जैसा लाभ भी साधक को मिल जाता है। ब्रह्मवर्चस् साधना का एक यही पक्ष—चांद्रायण व्रत ही अपने आप में इतना महत्त्वपूर्ण है कि इससे आत्म-परिष्कार का, परिशोधन का प्रयोजन सफलतापूर्वक पूरा होता है।

ब्रह्मवर्चस् साधनाओं के योगाभ्यास

ब्रह्मवर्चस् साधनाओं का चांद्रायणपरक पक्ष आत्मा पर चढ़े मल आवरण के विक्षेप की धुलाई और सफाई के लिए है। दुष्प्रवृत्तियों, दुष्कर्मों की जड़ मनुष्य का मन है, उसमें भरी पड़ी गंदगी को कुरेदने के लिए बुराइयों की आत्म स्वीकृति और उसका प्रायश्चित्त आवश्यक होता है। ब्रह्मवर्चस् साधनाओं का यह पक्ष खेत में बीज बोने की अपेक्षा कहीं अधिक आवश्यक है। उससे कम में मनोभूमि साधना के संस्कारों को आत्मसात् करने योग्य बन ही नहीं पाती। उसकी समस्त लालसाएँ और लिप्साएँ भौतिक जीवन के सुखों में ही अटकी पड़ी रहती हैं। जोंक शरीर के किसी अंग से चिपक जाएँ, तो फिर उसे चिमटी से मजबूत पकड़कर ही बाहर

निकाला ला सकता है। भौतिक और इंद्रियजन्य सुखों के पीछे पड़ी जोंक को भी तप और तितिक्षाओं की चिमटी से ही निकाला जा सकता है। ब्रह्मवर्चस् का चांद्रायण परायण पक्ष उसी की पूर्ति करता है।

उसके बाद अंतरात्मा का दूसरा पक्ष प्रस्तुत होता है। इसे ब्रह्मवर्चस्-साधना का उत्तरार्द्ध या दूसरा खंड कहते हैं। जब तक आत्म सत्ता के अस्तित्व का बोध नहीं होता, भौतिकतावादी जड़ता पूरी तरह समाप्त नहीं होती, तब तक श्रेय पथ पर देर तक चलते रह सकना संभव नहीं होता। इस स्थिति तक ले जाने के लिए आत्मबोध की योग-साधनाओं का अभ्यास अनिवार्य है। मनुष्य अपने जीवन का यथार्थस्वरूप जान ले, तो प्रतिकूल परिस्थितियाँ होने पर भी साधक पतित नहीं हो सकता। कोतवाल को सामने खड़ा देखकर अपराधी की हिम्मत टूट जाती है और वह सामने रखे खजाने में भी हाथ डालने का साहस नहीं कर सकता। आत्मबोध प्राप्त व्यक्ति ही महान् हुआ करते हैं, इन्हीं पर जनश्रद्धा, जन विश्वास और ईश्वरीय अनुग्रह बरसता देखा जाता है। आत्मपरायणता की स्थिति तक पहुँचने के लिए साधनाओं का अभ्यास अनिवार्य है, उससे कम में किसी को आत्मानुभूति, आत्म-साक्षात्कार का सुयोग मिला नहीं।

साधना विज्ञान विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक वैद्यक है। किस रोग में क्या औषधि दी जाए, इस बात का ज्ञान होने पर भी कोई रोगी व्यक्ति अपनी चिकित्सा आप नहीं करने लग जाता। रोग के प्रधान लक्षणों से बीमारी का निर्धारण तो हो सकता है, किंतु औषधि सेवन के संदर्भ में यह सिद्धांत लागू नहीं होता। बीमारी के साथ-साथ रोगी किस प्रकृति का है, यह भी ज्ञान होना आवश्यक है। एक ही बीमारी में पित्त प्रधान रोगी के लिए मूल औषधि के साथ अन्य औषधियाँ भी दी जाती हैं। कफ प्रधान रोगी के लिए उसमें दूसरी तरह का अंतर आ जाता है। वात प्रधान रोगी के लिए कोई भिन्न ही प्रकार की औषधि बनती है। औषधि ही नहीं, विधि-निषेध, खान-पान और आहार-विहार तक में हर रोगी की प्रकृति के अनुरूप ध्यान देना होता है। इस बात को केवल वैद्य ही समझ सकता है। मात्र भेषज की

पुस्तक पढ़ लेने से कोई यह निर्धारण नहीं कर सकता। ठीक यही स्थिति साधना विज्ञान की भी है। उसका क्षेत्र और भी विस्तृत होने से और अधिक व्यापक दृष्टि की आवश्यकता होती है। साधक की प्रकृति, उसके वातावरण, शारीरिक सहिष्णुता के साथ-साथ उसके पिछले अनेक जन्मों के संस्कार कौन देख सकता है ? कोई आत्मवेधी सिद्ध तपोधन ही उस सत्य का निराकरण कर सकते हैं। इसी कारण सदैव से ही समर्थ गुरुओं के आश्रम ढूँढ़े जाते रहे हैं। योग्य मार्गदर्शक ही साधक को सही रास्ता दिखा सकता है। ब्रह्मवर्चस् साधना अभियान को जहाँ गंगा की पावन गोद, हिमालय का पुनीत अंचल और सप्तऋषियों की साधना का पुण्य क्षेत्र प्राप्त है, वहीं वह समर्थ संरक्षण भी, जहाँ साधक थोड़े समय में ही उतनी प्रगति कर सकता है, जितने के लिए सैकड़ों स्थान घूमने और अनेकों के आगे नाक रगड़ने पर भी नहीं हो सकती। मात्र साधक की मनोभूमि परखने और उसके योग्य साधनाएँ चयन करने का सुयोग ही नहीं, यहाँ साधना के साथ-साथ शरीर में होने वाले परिवर्तनों के अध्ययन के लिए साधनसंपन्न प्रयोगशाला भी है, जिसमें किसी भी साधक को उसकी प्रगति से आश्वस्त किया जा सकता है।

ब्रह्मवर्चस् शिविरों में साधनाएँ सबकी एक जैसी नहीं होंगी। उसमें साधकों की स्थिति का गहरा पर्यवेक्षण करके तदुपरांत यह निर्णय किया जाएगा कि किसकी क्या साधना होनी चाहिए? स्कूली विद्यार्थियों में एक कक्षा का एक पाठ्यक्रम होता है, पर अस्पताल में एक मर्ज में सभी मरीजों का एक जैसा इलाज नहीं होता। हर रोगी की स्थिति में कुछ-न-कुछ अंतर रहता है। तदनुसार उनकी चिकित्सा में भी अंतर रहता है।अध्यात्म साधनाओं में अब तक की साधना, मान्यता, श्रद्धा का—पूर्वसंचित संस्कारों का—स्वभाव अभ्यास का विशेष रूप से ध्यान रखना पड़ता है। संचित कुसंस्कार आत्मिक प्रगति के मार्ग में विशेष रूप से बाधक होते हैं। बन पड़े पापों का, कषाय-कल्मषों का संचय इतना विषम होता है कि साधना को सफल होने देना तो दूर, उलटे उसे असफल बनाने वाले विद्रोह खड़े कर देता है। साधना का प्रथम चरण इसी परिशोधन के साथ आरंभ होता

है। इस जन्म के पापों का प्रायश्चित्त प्रथम चरण है। सर्वप्रथम इसी धुलाई की—व्यवस्था करनी पड़ती है। रँगाई का कार्य इसके पश्चात् ही ठीक तरह बन पड़ता है। भूमि जोतने के बाद बीज बोने का समुचित लाभ है। पथरीली, झाड़-झंखाड़ों से भरी जमीन में उपयोगी साधना के बीज बोने पर भी उपयोगी उत्पादन की आशा नहीं की जा सकती। ब्रह्मवर्चस् साधना में प्रथम निदान परीक्षण, पीछे परिशोधन का क्रम चलेगा। प्रायश्चित्त क्या, कितना, किस प्रकार किया जा सकता है, उसका निर्णय-निर्धारण भी प्रत्येक साधक की स्थिति के अनुरूप हीं किया जा सकता है।

साधना अभ्यासों में दो क्रम हैं और दोनों साथ-साथ चलेंगे। शरीर में संव्याप्त प्राण-ऊर्जा के परिष्कार के लिए तपश्चर्या। मनः क्षेत्र की चिंतन-चेतना को उच्चस्तरीय प्रखरता के साथ जोड़ने के लिए योगपरक ध्यान-धारणा। दोनों का तारतम्य साथ-साथ मिलाकर समन्वयात्मक साधना विधि का निर्धारण किया जाएगा। यह निर्णय करते समय इस बात का ध्यान विशेष रूप से रखा जाएगा कि साधक को क्या छोड़ना और क्या ग्रहण करना है? छोड़ने और अपनाने की प्रक्रिया किस क्रम से चलनी चाहिए ? उसमें फौजी निर्देश देने और उसका परिपालन करने का ऐसा दबाव नहीं डाला जाएगा, जिसमें मन विद्रोह पर उतारू हो जाए। सहन शक्ति के साथ तालमेल बिठाकर साधक की सहमति से ही ऐसी साधना विधि निर्धारित की जाएगी, जो सरलतापूर्वक क्रमिक गति से आगे बढ़ती रह सके।

तप-तितिक्षा में, आहार संबंधी विशेष निर्धारण—ब्रह्मचर्य-मौन—ऋतु प्रभावों को सहना, अपनी शरीर सेवा स्वयं करना—अमुक नियम-मर्यादाओं का पालन जैसी विधि-व्यवस्था बना दी जाएगी और उसका निष्ठापूर्वक पालन करने के लिए साधक को कहा जाएगा।

योगाभ्यास कई प्रकार के होंगे। उनमें जप और ध्यान की प्रमुखता रहेगी। सवालक्ष जप का गायत्री पुरश्चरण सभी के लिए अनिवार्य नियम होगा। जप के समय ध्यान साकार और निराकार

दोनों हो सकते हैं। साकार उपासना में हंसवाहिनी गायत्री माता के कमंडल में से स्नेह-सौजन्य की अमृत वर्षा का रोम-रोम में प्रवेश और उससे अंतरात्मा का पुलकित होना अनुभव किया जाता है। निराकार उपासना में प्रभातकालीन अरुणोदय—सविता की—दिव्य किरणों का साधक पर अवतरण और उसमें ओजस्, तेजस् और ब्रह्मवर्चस् की प्रचंड उपलब्धि की अनुभूति उभारी जाती है। सोऽहं, मुद्राएँ, शिथिलीकरण, प्राणायाम, आसन-सिद्धि, बंध-प्रयोग, नादयोग, चक्र जागरण के लिए प्राण-ऊर्जा का घर्षण की अनेक योग-क्रियाएँ इस अवधि में प्रत्येक साधक की स्थिति के अनुरूप बताई जाती रहेंगी। जप-तितिक्षा, तप तथा योगाभ्यास की क्रियाएँ सभी साथ चलेंगी, पर उनमें प्रत्येक साधक की अंतर्बाह्य परिस्थितियों को ध्यान में अवश्य रखा जाएगा।

जो योग-साधनाएँ सामान्य रूप से सभी को करनी पड़ेंगी, उनकी पूर्व जानकारी रहे, तो अभ्यास में अधिक सुविधा रहती है। यहाँ बताए जाने वाले अभ्यास परामर्श के बाद कराए जाएँगे। पर पाँच क्रियाएँ सर्वथा निरापद होने से यहाँ दी जा रही हैं, उनका अभ्यास ब्रह्मवर्चस् सत्र में आने से पूर्व भी प्रारंभ किया जा सकता है। उनमें किसी प्रकार के जोखिम की कोई आशंका नहीं है। ये पाँच क्रियाएँ हैं—(१) जप और ध्यान, (२) त्राटक, (३) खेचरी मुद्रा, (४) सोऽहं साधनाएँ तथा (५) शक्ति-संचार—इन पाँचों का अभ्यास हर किसी के लिए अनिवार्य होगा।

उच्चस्तरीय साधना के दो सोपान—
जप और ध्यान

प्रतीक उपासना की पार्थिव पूजा के कितने ही कर्मकांडों का प्रचलन है। तीर्थयात्रा, देवदर्शन, स्तवन, पाठ, षोडशोपचार, परिक्रमा, अभिषेक, शोभायात्रा, श्रद्धांजलि, रात्रि-जागरण, कीर्तन आदि अनेकों विधियाँ विभिन्न क्षेत्रों और वर्गों में अपने-अपने ढंग से विनिर्मित और प्रचलित हैं। इससे आगे का अगला स्तर है, जिसमें उपकरणों

का प्रयोग न्यूनतम होता है और अधिकांश कृत्य मानसिक एवं भावनात्मक रूप से ही संपन्न करना पड़ता है। यों शारीरिक हलचलों, श्रम और प्रक्रियाओं का समन्वय उनमें भी रहता ही है।

उच्चस्तरीय साधना-क्रम में मध्यवर्ती विधान के अंतर्गत दो प्रधान साधनाएँ प्रत्येक धर्म संप्रदाय में समान रूप से मिलती हैं। (१) जप, (२) ध्यान। संप्रदाय विशेष के मंत्र जो भी हों, जप की आवश्यकता सर्वत्र बताई गई है। इसी प्रकार जिन धर्मों में मूर्ति पूजा का प्रचलन नहीं है, वे भी निराकार-प्रकाश का ध्यान करते हैं। इस तरह ये दो क्रियाएँ जो परस्पर एकदूसरे की पूरक हैं, उनका प्रचलन हर धर्म में मिलता है। भारतीय योगशास्त्र में तो इनकी महत्ता असाधारण बताई गई है। इन्हीं के माध्यम से शरीर के अंग-प्रत्यंग में प्रवेश, सूक्ष्मतम चक्रों, उपत्यिकाओं का बेधन होता है।

साधना की अंतिम स्थिति में शारीरिक या मानसिक कोई कृत्य करना शेष नहीं रहता। मात्र अनुभूति, संवेदना, भावना तथा संकल्प शक्ति के सहारे विचाररहित शून्यावस्था प्राप्त की जाती है। इसी को समाधि अथवा तुरियावस्था कहते हैं। ब्रह्मानंद का—परमानंद का अनुभव इसी स्थिति में होता है। इसे ईश्वर और जीव के मिलन की चरम अनुभूति कह सकते हैं। इस स्थान पर पहुँचने से ईश्वर-प्राप्ति का जीवन-लक्ष्य पूरा हो जाता है। यह स्तर समयानुसार आत्मविकास का क्रम पूरा करते चलने से ही उपलब्ध होता है। उतावली में काम बनता नहीं, बिगड़ता है। तुरत-फुरत ईश्वर-दर्शन, समाधिस्थिति, कुंडलिनी जागरण, शक्तिपात जैसी आतुरता से बालबुद्धि का परिचय भर दिया जा सकता है, प्रयोजन कुछ सिद्ध नहीं होता। शरीर को सत्कर्मों में और मन को सद्विचारों में ही अपनाए रहने से जीव सत्ता का उतना परिष्कार हो सकता है, जिससे वह स्थूल और सूक्ष्म शरीरों को समुन्नत बनाते हुए कारण शरीर के उत्कर्ष से संबद्ध दिव्य अनुभूतियाँ और दिव्य सिद्धियाँ प्राप्त कर सके।

समयानुसार उस अंतिम स्थिति की—कॉलेज पाठ्यक्रम की भी, शिक्षा उपलब्ध हो जाती है। ऐसी दिव्य सत्ताएँ इस संसार में

मौजूद हैं, जो पात्रता के बादलों की तरह बरस कर सदा भरा-पूरा रखने को अयाचित सहायता प्रदान कर सकें। हमें शरीर के जड़ और मन के अर्द्धचेतन स्तरों को परिष्कृत बनाने में ही अपना सारा ध्यान केंद्रित करना चाहिए। साधना विज्ञान की दौड़ इन्हीं दो क्षेत्रों के विकास में सहायता करने वाले विधि-विधान बताने में केंद्रीभूत है। इतना बन पड़े, तो अगली बात निखिल ब्रह्मांड में संव्याप्त दिव्य चेतना के प्रत्यक्ष मार्गदर्शन पर छोड़ी जा सकती है। अपना आपा ही इतना ऊँचा उठ जाता है कि पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से ऊपर निकल जाने के बाद राकेट जिस प्रकार अपनी यात्रा अपने बलबूते चलाने लगते और अमुक कक्षा बनाकर भ्रमण करने लगते हैं, उसी प्रकार स्वयमेव आत्म-साधना का शेष भाग पूरा हो जाता है।

आत्मोत्कर्ष की जिन कक्षाओं का सैद्धांतिक और व्यावहारिक पाठ्यक्रम सीखने-सिखाने की आवश्यकता पड़ती है, वे चिंतन की उत्कृष्टता एवं कर्तृत्व की आदर्शवादिता के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। उनकी उपेक्षा करके मात्र कर्मकांडों के सहारे कोई बड़ी सफलता हाथ नहीं लग सकती। व्यक्तित्व को अमुक विधि-विधानों के सहारे ऊँचा उठाने की शिक्षा की चाइल्ड गार्डन शिक्षण में प्रयुक्त होने वाले मनोरंजन के उपकरणों से तुलना की जा सकती है, जो बच्चे के अविकसित मस्तिष्क में अमुक जानकारी को ठीक तरह जमाने में सहायता करती है। पहलवानी में सफलता पाने वाले डंबल, मुगदर आदि उपकरणों का सहारा लेकर अपनी बलवृद्धि करते हैं। ऊँचा चढ़ने के लिए लाठी की और जल्दी पहुँचने के लिए वाहन की जरूरत पड़ती है। यह उपकरण बहुत ही उपयोगी और आवश्यक है, पर यह ध्यान रखना चाहिए कि स्वतंत्र रूप से कोई जादुई शक्ति से संपन्न नहीं है। स्वस्थ शरीर को बलिष्ठ बनाने में ये सहायता भर करते हैं। ठीक यही स्थिति उपासना-क्षेत्र में फैले हुए अनेकानेक कर्मकांडों की है।

स्थूल शरीर को प्रभावित करने वाली तपश्चर्या और प्रतीक पूजा के साथ जुड़े हुए क्रिया-कृत्यों की चर्चा पिछले लेख में हो चुकी

है। सूक्ष्म शरीर के संशोधन में जप और ध्यान का प्रयोग करना पड़ता है। जप द्वारा अपने आप ही उस परमेश्वर को पुकारना है, जिसे हम एक प्रकार से भूल ही चुके हैं। मणिविहीन सर्प जिस तरह अशक्त एवं हताश बना बैठा रहता है, उसी प्रकार हम परमात्मा से बिछुड़कर अनाथ बालक की तरह डरे, सहमे बैठे हैं—अपने को असुरक्षित और आपत्तिग्रस्त स्थिति में अनुभव कर रहे हैं। लगता है कि हमारा कुछ बहुमूल्य खो गया है। जप की पुकार उसी को खोजने के लिए है। बिल्ली अपने बच्चों के इधर-उधर छिप जाने पर उन्हें ढूँढ़ने के लिए म्याऊँ-म्याऊँ करती-फिरती है और उस पुकार के आधार पर उन्हें खोज निकालती है। कोई बालक खो जाने पर उसके ढूँढ़ने के लिए नाम और हुलिया की मुनादी कराई जाती है। राम-नाम की रट इसी प्रयोजन के लिए है।

गज की एक टाँग ग्राह के मुँह में चली गई थी। गज पानी से बाहर निकलना चाहता था और ग्राह उसे भीतर घसीटता था। दोनों में से हारता भी कोई नहीं था। इस खींचतान में हाथी को भारी कष्ट हो रहा था। न मरते बनता था और न जीते। अतः दुःखी होकर गज ने भगवान् को पुकार लगाई। उनका नाम हजार बार लिया, तब भगवान् उसे बचाने के लिए आए थे। द्रौपदी ने भरी सभा में लाज जाते देखकर भगवान् को पुकारा था और वे उसे आश्वस्त करने आए थे। अज्ञानांधकार में भटकने वाले जीव की स्थिति गज से भी गई—बीती है। गज की एक टाँग को एक मगर खा रहा था। यहाँ काम, क्रोध, मद, मत्सर रूपी चार ग्राह दोनों हाथ, दोनों पैर, सिर और धड़—इन छहों अवयवों को खाए जा रहे हैं।

द्रौपदी का शरीर ही निर्वसन हो रहा था, पर आत्मा की शालीनता का आवरण उतरता जाने से उसका बहिरंग और अंतरंग दोनों ही लज्जास्पद बनते चले जा रहे हैं। ऐसी दशा में गज रूपी मन और आत्मा रूपी द्रौपदी का भगवान् को पुकारना उचित ही है। जप में भगवत् नाम की रट पतन के गर्त में से हाथ पकड़कर ऊपर उबारने के लिए ही लगाई जाती है।

सीता जी चोरी चली गई थीं। राम उन्हें ढूँढ़ने के लिए वृक्षों से, पक्षियों से, पर्वतों से पूछते फिरते थे कि आप लोगों ने कहीं सीता को देखा हो, तो बताओ। वे ऐसा ही सीता-सीता की पुकार लगाते थे, ताकि वे उधर कहीं हो तो मिल जाएँ। विछोह की वेदना उन्हें ऐसा करने के लिए विवश कर रही थी। मनुष्य अपनी आत्मा को खो बैठा है और सीता को गँवाकर वियोग-विह्वल राम की तरह नाम की रट लगाता है। जप का एक उद्देश्य यह भी है।

परमात्मा की दिव्य चेतना के अभाव में मनुष्य नर-पशु, नर-कीटक मात्र बनकर रह जाता है। पंच तत्त्वों की काया में पेट और प्रजनन मात्र ही दो आकांक्षाएँ रहती हैं और वह उनकी पूर्ति के लिए वासना-तृष्णा में ग्रसित रहकर अचिंत्य चिंतन तथा अकर्म करने में निरत रहता है। आदर्शों को अपनाने के लिए न उसकी उत्कंठा जगती है और न चेष्टा होती है। सड़ी कीचड़ में कुलबुलाते रहने वाले घिनौने कीड़े की तरह उसे कुत्साओं और कुंठाओं की शोक-संतापों की प्रताड़नाएँ सहन करते हुए इस सुर-दुर्लभ अवसर को रोते-कलपते गँवाना पड़ता है। इस अंधकार में भटकने से त्राण पाने के लिए आत्मा प्रकाश को पुकारती है। यह प्रकाश भगवान् ही हो सकता है। उसे पाने की आतुरता में जिन शब्दों का उच्चारण होता है, उसे नाम-जप कह सकते हैं।

यह सोचना व्यर्थ है कि भगवान् का मन इतना ओछा है कि वे अपना नाम लेने वाले से—चापलूसी भरे शब्दोचार करने वाले से प्रसन्न हो जाते हैं। उन्हें नाम लेने न लेने से कोई वास्ता नहीं। वह दिव्य सत्ता तो केवल इतना ही देखती है कि जो काम सौंपे गए थे, वे पूरे किए गए या नहीं। वे अनुशासन और कर्त्तव्यपालन भर की अपेक्षा मनुष्य से करते हैं और इस कसौटी पर कसकर दंड-पुरस्कार की व्यवस्था करते हैं। उनका रोष और प्रेम ठीक विद्युत् शक्ति की तरह है। बिजली का विधिवत् उपयोग करने वाले उससे तरह-तरह के लाभ उठाते हैं। रोशनी, पंखा, रेडियो, हीटर जैसे अनेक प्रयोजन पूरे करते हैं, किंतु जो उसके खुले तार छूने की उच्छृंखलता बरतते हैं, वे रोष के भाजन बनते और अपने प्राण गँवा बैठते हैं। भगवान् का

नाम 'रुद्र' भी है। रुद्र अर्थात् भयंकर अनीति बरतने वालों को वे बिना दया-माया प्रदर्शित किए कसकर दंड भी देते हैं। नाम-जप की चापलूसी से ईश्वर को फुसला लेने और जो लाभ सन्मार्ग पर चलने वालों को मिलता है, वही पूजा-पत्री से पा लेने की बात सोचना मूर्खतापूर्ण है। ईश्वर को इतना मूर्ख और ओछा नहीं समझा जाना चाहिए कि नाम लेने भर से किसी को भक्त मान लें और निहाल कर दें। उसका अनुग्रह तो व्यक्तित्व को परिष्कृत करने और सन्मार्ग पर चलने में ही संभव हो सकता है।

शरीर पर नित्य मैल चढ़ता है और उसे साफ करने के लिए नित्य स्नान करना पड़ता है। कपड़े नित्य मैले होते हैं और उन्हें रोज ही धोना होता है। कमरे में झाड़ू लगाना, दाँत माँजना, बालों में कंघी करना नित्य का काम है। मन पर नित्य ही वातावरण में उड़ती फिरने वाली दुष्प्रवृत्तियों की छाप पड़ती है। उस मलिनता को धोने के लिए नित्य ही उपासना करनी पड़ती है। भगवत् स्मरण उपासना का प्रधान अंग है। नाम के आधार पर ही किसी सत्ता का बोध और स्मरण हमें होता है। ईश्वर को स्मृति-पटल पर प्रतिष्ठापित करने के लिए उसके नाम का सहारा लेना पड़ता है। स्मरण से आह्वान, आह्वान से स्थापना और स्थापना से उपलब्धि का क्रम चल पड़ना मनोविज्ञान शास्त्र द्वारा समर्थित है।

चेतना को प्रदर्शित करने के लिए मनोविज्ञान शास्त्र में चार आधार और स्तर बनाए गए हैं। इनमें प्रथम है—शिक्षण। जिसे अँग्रेजी में 'लर्निंग' कहते हैं। स्कूल के बच्चों को इसी स्तर पर पढ़ाया जाता है। उन्हें तरह-तरह की जानकारियाँ दी जाती हैं। उन जानकारियों को सुन लेने भर से काम नहीं चलता। विद्यार्थी उन्हें बार-बार दोहराते हैं। स्कूल पढ़ाई का सारा क्रम ही दुहराने—याद करने के सहारे खड़ा होता है। पहाड़े रटने पड़ते हैं। संस्कृत को तो रटंत विद्या ही कहा जाता है। प्रकारांतर से यह रटाई किसी-न-किसी प्रकार हर छात्र को करनी पड़ती है। स्मृति-पटल पर किसी नई बात को जमाने के लिए बार-बार दुहराए जाने की क्रिया अपनाए बिना और कोई रास्ता नहीं है।

एक बार याद कर लेने से कुछ बातें तो देर तक याद बनी रहती हैं, पर कुछ ऐसी हैं जो थोड़े दिन अभ्यास छोड़ देने से एक प्रकार से विस्मरण ही हो जाती हैं। स्कूली पढ़ाई छोड़ देने के उपरांत यदि वे विषय काम में न आते रहें, तो कुछ समय बाद विस्मृत हो जाते हैं। फौजी सिपाहियों को नित्य ही परेड करनी पड़ती है। पहलवान लोग बिना नागा अखाड़े में जाते और रोज ही दंड-बैठक करते हैं। संगीतकारों के लिए नित्य 'रियाज' आवश्यक हो जाता है। कुछ समय के लिए भी वे गाने-बजाने का अभ्यास छोड़ दें, तो उँगलियाँ लड़खड़ाने लगेंगी और ताल-स्वरों में अड़चन उत्पन्न होने लगेगी।

शिक्षण की 'लर्निंग' भूमिका में पुनरावृत्ति का आश्रय लिया जाना आवश्यक है। जप द्वारा अनभ्यस्त ईश्वरीय चेतना को स्मृति-पटल पर जमाने की आवश्यकता होती है, ताकि उपयोगी प्रकाश की अंतःकरण में प्रतिष्ठापना हो सके। कुँए की जगत में लगे पत्थर पर रस्सी की रगड़ बहुत समय तक पड़ते रहने से उसमें निशान बन जाते हैं। हमारी मनोभूमि भी इतनी ही कठोर है। एक बार कहने से बात समझ में तो आ जाती है, पर उसे स्वभाव की—अभ्यास की भूमिका तक उतारने के लिए बहुत समय तक दुहराने की आवश्यकता पड़ती है। पत्थर पर रस्सी की रगड़ से निशान पड़ने की तरह ही हमारी कठोर मनोभूमि पर भगवत् संस्कारों का गहराई तक जम सकना संभव है।

शिक्षण की दूसरी परत है—'रिटेंशन' अर्थात् प्रस्तुत जानकारी को स्वभाव का अंग बना लेना। तीसरी भूमिका है—'रिकॉल' अर्थात् भूतकाल की किन्हीं विस्मृत स्थितियों को कुरेद-बीनकर फिर से सजीव कर लेना। चौथी भूमिका है—'रिकॉग्नीशन' अर्थात् मान्यता प्रदान कर देना। निष्ठा, आस्था—श्रद्धा एवं विश्वास में परिणत कर देना। उपासना में इन्हीं सब प्रयोजनों को पूरा करना पड़ता है। ये चारों ही परतें छेड़नी होती हैं। भगवान् की समीपता अनुभव कराने वाली प्रतीक-पूजा 'रिटेंशन' है। ईश्वर के साथ आत्मा के अति

प्राचीन संबंधों को भूल जाने के कारण ही जीवन में भटकाव होता है। पतंग उड़ाने वाले के हाथ से डोरी छूट जाती है, तभी वह इधर-उधर छितराती फिरती है। बाजीगर की उँगलियों से बँधे कठपुतली के संबंध-सूत्र टूट जाएँ, तो फिर वे लकड़ी के टुकड़े नाच किस प्रकार दिखा सकेंगे? कनेक्शन तार टूट जाने पर बिजली के यंत्र अपना काम करना बंद कर देते हैं। ईश्वर और जीव का संबंध सनातन है, पर वह माया में अत्यधिक प्रवृत्ति के कारण एक प्रकार से टूट ही गया है। इसे फिर से सोचने, सूत्र को नए सिरे से ढूँढने और टूटे संबंधों को फिर से जोड़ने की प्रक्रिया 'रिकॉल' है। जप द्वारा यह उदेश्य भी पूरा होता है। चौथी भूमिका में 'रिकॉग्नीशन' में पहुँचने पर जीवात्मा की मान्यता अपने भीतर ईश्वरीय प्रकाश विद्यमान होने की बनती है और वह वेदांत तत्त्वज्ञान की भाषा में **'अयमात्मा ब्रह्म'—'तत्त्वमसि' सोहमस्मि—चिदानन्दोहम्—शिवोहम्** की निष्ठा जीवित करता है। यह शब्दोचार नहीं, वरन् मान्यता का स्तर है। जिसमें पहुँचे हुए मनुष्य का गुण, कर्म, स्वभाव, दृष्टिकोण एवं क्रिया-कलाप ईश्वर जैसे स्तर का बन जाता है। उसकी स्थिति महात्मा, देवात्मा एवं परमात्मा जैसी देखी और अनुभव की जा सकती है।

आत्मिक प्रगति के लिए चिंतन क्षेत्र की जुताई करनी पड़ती है, तभी उसमें उपयोगी फसल उगती है। खेत को बार-बार जोतने से ही उसकी उर्वरा शक्ति बढ़ती है। नाम जप को एक प्रकार से खेत की जुताई कह सकते हैं। प्रहलाद की कथा है कि वे स्कूल में प्रवेश पाने के उपरांत पट्टी पर केवल राम नाम ही लिखते हैं। आगे की बात पढ़ने के लिए कहे जाने पर भी राम नाम ही लिखते रहे और कहते रहे। इस एक को ही पढ़ लेने पर सारी पढ़ाई पूरी हो जाती है। युधिष्ठिर की कथा भी ऐसी ही है। अन्य छात्रों ने आगे के पाठ याद कर लिए, पर वे पहला पाठ 'सत्यं वद' ही रटते-लिखते रहे। अध्यापक ने आगे के पाठ पढ़ाने के लिए कहा, तो उनका उत्तर यही था कि एक पाठ याद हो जाने पर दूसरा पढ़ना चाहिए। उनका तात्पर्य यह था कि सत्य के प्रति अगाध निष्ठा और व्यवहार में उतारने की

परिपक्वता उत्पन्न हो जाने तक उसी क्षेत्र में अपने चिंतन को जोते रहना चाहिए।

नाम जप में होने वाली पुनरावृत्ति के पीछे युधिष्ठिर और प्रहलाद द्वारा अपनाई गई प्रक्रिया का संकेत है। भगवान्मय जीवन बनाने की स्थिति आने तक नाम-स्मरण करते रहा जाना चाहिए। अंतरात्मा द्वारा एक मन और दस इंद्रियों को पढ़ाने के लिए खोली गई पाठशाला को उपासना कृत्य समझा जा सकता है। उसमें नाम-जप की रटाई कराई जाती है, ताकि छात्र वर्णमाला, गिनती, पहाड़े भली प्रकार याद कर सकें। एक ही विधान को लगातार दुहराते रहने के पीछे यही बाल-शिक्षण की प्रक्रिया काम करती है।

कपड़े को देर तक रंग भरी नाद में डुबोए रहने से उस पर पक्का रंग चढ़ जाता है। चंदन वृक्ष के समीप उगे हुए झाड़-झंखाड़ भी सुगंधित हो जाते हैं। गुलाब के फूल जिस मिट्टी पर टूट-टूटकर गिरते रहते हैं वह भी सुगंधित हो जाती है। सान्निध्य का लाभ सर्वविदित है। सत्संग और कुसंग के भले-बुरे परिणाम हैं, उसका सत्परिणाम सामने आए बिना नहीं रह सकता। कीट भृंग का उदाहरण प्रख्यात है।

जप के लिए भारतीय धर्म में सर्वविदित और सर्वोपरि मंत्र गायत्री मंत्र का प्रतिपादन है। उसे गुरुमंत्र कहा गया है। अंतःचेतना को परिष्कृत करने में उसका जप बहुत ही सहायक सिद्ध होता है। वेदमाता उसे इसलिए कहा गया है कि वेदों में सन्निहित ज्ञान-विज्ञान का सारा वैभव बीज रूप से इन थोड़े से अक्षरों में ही सन्निहित है।

जप का भौतिक महत्त्व भी है। विज्ञान के आधार पर भी उसकी उपयोगिता समझी, समझाई जा सकती है। शरीर और मन में अनेकानेक दिव्य क्षमताएँ, चक्रों, ग्रंथियों, भेद और उपत्यिकाओं के रूप में विद्यमान हैं। उनमें ऐसी सामर्थ्य विद्यमान है जिन्हें जगाया जा सके, तो व्यक्ति को अतींद्रिय एवं अलौकिक विशेषताएँ प्राप्त हो सकती हैं। साधना का परिणाम सिद्धि है। ये सिद्धियाँ भौतिक प्रतिभा और आत्मिक दिव्यता के रूप में जिस साधना आधारों के सहारे विकसित होती हैं, उनमें जप को प्रथम स्थान दिया गया है।

ब्रह्मवर्चस् साधना में महामंत्र के साधनाकाल में सवा लक्ष जप का प्राविधान रखा गया है। भारतीय संस्कृति में वैसे भी प्रत्येक द्विज को नियमित रूप से गायत्री मंत्र जप का निर्देश है। उसका उल्लंघन करना ही अंत्यज श्रेणी में जाना अर्थात् अस्पर्श्य माना जाता रहा है, आज तो इस सिद्धांत ने वंश-परंपरा का काम धारण कर लिया है। किंतु प्राचीन भारत में कभी ऐसा नहीं रहा। द्विज शब्द का अर्थ ही यह है कि जो पहला जन्म छोड़कर उच्च संस्कारसंपन्न करने का संकल्प वरण करे। गायत्री मंत्र का जप उसके लिए अनिवार्य माना गया था। इस मान्यता के पीछे मात्र भावनात्मक या मनोवैज्ञानिक कारण मात्र नहीं थे। जप भौतिक विज्ञान की उच्च मान्यताओं से सब प्रकार पोषित और समर्थित है।

मुख को अग्निचक्र कहा गया है। मोटे अर्थों में उसकी संगति जठराग्नि से मिलाई जा सकती है। मंदाग्नि, तीव्राग्नि का वर्णन मुँह से लेकर आमाशय, अंत्रि संस्थान तक विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई पाचन ग्रंथियों की निष्क्रियता-सक्रियता का परिचय देने के रूप में किया जाता है। मुँह चबाता है और पचाने का प्राथमिक कार्य अपने गह्वर में पूरा करता है। आगे चलकर आहार की पाचन क्रिया अन्याय रूपों में विकसित होती जाती है। अग्नि चक्र की—मुख में अवस्थित ऊष्मा की—स्थूल चर्चा ही पाचन-प्रक्रिया के रूप में की जा सकती है। वस्तुतः उस संस्थान को यज्ञाग्नि का दिव्य कुंड कह सकते हैं, जिससे पाचन का ही नहीं, वाक् शक्ति का भी उद्भव होता है। वाणी की शक्ति का जीवन के उत्कर्ष-अपकर्ष में कितना अधिक योगदान है। इसकी जानकारी किसी गूँगे और ओजस्वी वक्ता की स्थिति की तुलना करके देखने से मिल सकती है। संभावना का आदान-प्रदान कितना प्रभावी है, इसका इसलिए पता नहीं चलता कि वह ढर्रा सहज अभ्यास में चलता रहता है और हम उससे कुछ विशेष निष्कर्ष नहीं निकाल पाते। यदि हम किसी मूक योनि के प्राणी रहे होते और बातचीत का आनंद एवं लाभ लेने वाले मनुष्य की सुविधा का लेखा-जोखा लेते, तो पता चलता कि यह कितनी बड़ी उपलब्धि है।

मुख का अग्निचक्र स्थूल रूप से पाचन का—सूक्ष्म रूप में उच्चारण का और कारण रूप से चेतनात्मक दिव्य प्रवाह उत्पन्न करने का कार्य करता है। उसके तीनों कार्य एक से बढ़कर एक हैं। पाचन और उच्चारण की महत्ता सर्वविदित है। दिव्य प्रवाह संचार की बात कोई-कोई ही जानते हैं। जपयोग का सारा विज्ञान इसी रहस्यमयी सामर्थ्य के साथ संबद्ध है।

शब्दों का उच्चारण मात्र जानकारी ही नहीं देता, वरन् उनके साथ अनेकानेक भाव-अभिव्यंजनाएँ, संवेदनाएँ प्रेरणाएँ एवं शक्तियाँ भी जुड़ी होती हैं। यदि ऐसा न होता, तो वाणी में मित्रता एवं शत्रुता उत्पन्न करने की सामर्थ्य न होती। दूसरों को उठाने-गिराने में उसका उपयोग न हो पाता। कटु शब्द सुनकर क्रोध का आवेश चढ़ आता है और न कहने योग्य कहने तथा न करने योग्य करने की स्थिति बन जाती है। चिंता का समाचार सुनकर भूख-प्यास और नींद चली जाती है। शोक संवाद सुनकर मनुष्य अर्द्ध मूर्च्छित जैसा हो जाता है। तर्क, तथ्य, उत्साह एवं भावुकता भरा शब्द प्रवाह देखते-देखते जनसमूह का विचार बदल देता है और उस उत्तेजना से सम्मोहित असंख्य मनुष्य कुशल वक्ता का अनुसरण करने के लिए तैयार हो जाते हैं। द्रौपदी ने थोड़े से व्यंग्य-उपहास भरे अपमानजनक शब्द दुर्योधन से कह दिए थे। उनका घाव इतना गहरा उतरा कि अठारह अक्षौहिणी सेना का विनाश करने वाले महाभारत के रूप में उसकी भयानक प्रतिक्रिया सामने आई। इन तथ्यों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि वाणी का काम जानकारी देना भर नहीं है। शब्द-प्रवाह के साथ-साथ उनके प्रभावोत्पादक चेतन तत्त्व भी जुड़े रहते हैं और वे ध्वनि-कंपनों के साथ घुले रहकर जहाँ भी टकराते हैं, वहाँ चेतनात्मक हलचल उत्पन्न करते हैं। शब्द को पदार्थ विज्ञान की कसौटी पर भौतिक तरंग स्पंदन भर कहा जा सकता है, पर उसकी चेतना को प्रभावित करने वाली—संवेदनात्मक क्षमता की भौतिक व्याख्या नहीं हो सकती। वह विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक है।

जपयोग में शब्दशक्ति के इसी आध्यात्मिक प्रभाव को छानकर काम में लाया जाता है। नींबू का रस निचोड़कर उसका छिलका एक

ओर रख दिया जाता है। दूध में से घी निकालकर छाछ को महत्त्वहीन ठहरा दिया जाता है। जपयोग में ऐसा ही होता है। उसके द्वारा ऐसी चेतन शक्ति का उद्भव होता है, जो जपकर्ता के शरीर एवं मन में विचित्र प्रकार की हलचलें उत्पन्न करती है और अनंत आकाश में उड़कर विशिष्ट व्यक्तियों को विशेष परिस्थितियों को तथा समूचे वातावरण को प्रभावित करती है।

मंत्रों का चयन ध्वनि विज्ञान को आधार मानकर किया गया है। अर्थ का समावेश गौण है। गायत्री मंत्र की सामर्थ्य अद्भुत है, पर उसका अर्थ अति सामान्य है। भगवान् से सद्बुद्धि की कामना भर उसमें की गई है। इसी अर्थ प्रयोजन को व्यक्त करने वाले मंत्र-श्लोक हजारों हैं। हिंदी तथा अन्य भाषाओं में भी ऐसी कविताओं की कमी नहीं, जिनमें परमात्मा से सद्बुद्धि की प्रार्थना की गई हो। फिर उन सब कविताओं को गायत्री मंत्र के समकक्ष क्यों नहीं रखा जाता और उनका उच्चारण क्यों उतना फलप्रद नहीं होता ? वस्तुतः मंत्र स्रष्टाओं की दृष्टि में शब्दों का गुंथन ही महत्त्वपूर्ण रहा है। कितने ही बीजमंत्र ऐसे हैं जिनका खींचतान कर ही कुछ अर्थ भले ही गढ़ा जाए, पर वस्तुतः उनका कुछ अर्थ है नहीं। ह्रीं, श्रीं, क्लीं, ऐं, हुँ, यं, फट् आदि शब्दों का क्या अर्थ हो सकता है, इस प्रश्न पर माथापच्ची करना बेकार है। उनका सृजन यह ध्यान में रखते हुए किया गया है कि उनका उच्चारण किस स्तर का शक्ति कंपन्न उत्पन्न करता है और उनका जपकर्ता, बाह्य वातावरण तथा अभीष्ट प्रयोजन पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

मानसिक, वाचिक एवं उपांशु जप में ध्वनियों के हलके-भारी किए जाने की प्रक्रिया काम में लाई जाती है। वेद मंत्रों के अक्षरों के साथ-साथ उदात्त-अनुदात्त और स्वरित क्रम से उनका उच्चारण नीचे ऊँचे तथा मध्यवर्ती उतार-चढ़ाव के साथ किया जाता है। उनके सस्वर उच्चारण की परंपरा है। यह सब विधान इसी दृष्टि से बनाने पड़े हैं कि उन मंत्रों का जप अभीष्ट उद्देश्य पूरा कर सकने वाला शक्ति-प्रवाह उत्पन्न कर सके।

मंत्र जप की दुहरी प्रतिक्रिया होती है— एक भीतर, दूसरी बाहर। आग जहाँ जलती है उस स्थान को गरम करती है, साथ ही वायुमंडल में ऊष्मा बिखेरकर अपने प्रभाव-क्षेत्र को भी गरमी देती है। जप का ध्वनि प्रवाह—समुद्र की गहराई में चलने वाली जलधाराओं की तरह तथा ऊपर आकाश में छितराई हुई उड़ने वाली हवा की परतों की तरह अपनी हलचलें उत्पन्न करता है। उसके कारण शरीर में यत्र-तत्र, सन्निहित अनेकों 'चक्रों' तथा 'उपत्यिकाओं' और ग्रंथियों में विशिष्ट स्तर का शक्ति-संचार होता है। लगातार के एक नियमित क्रम से चलने वाली हलचलें ऐसा प्रभाव उत्पन्न करती हैं, जिन्हें रहस्यमय ही कहा जा सकता है। पुलों पर सैनिकों को पैरों को मिलाकर चलने से उत्पन्न क्रमबद्ध ध्वनि उत्पन्न न करने के लिए इसलिए मना किया जाता है कि इस साधारण-सी क्रिया से पुल तोड़ देने वाला असाधारण प्रभाव उत्पन्न हो सकता है।

जप लगातार करना पड़ता है और एक ही क्रम से इस प्रक्रिया के परिणामों को विज्ञान की प्रयोगशाला में अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है। एक टन भारी लोहे का गार्टर किसी छत के बीचों-बीच लटका दिया जाए और पाँच ग्राम भारी हलके से कार्क के लगातार आघात लगाने प्रारंभ कर दिए जाएँ, तो कुछ ही समय में वह सारा गार्टर काँपने लगेगा। यह लगातार एक गति से आघात क्रम से उत्पन्न होने वाली शक्ति का चमत्कार है। मंत्र जप यदि विधिवत् किया गया है, तो उसका परिणाम भी यही होता है। सूक्ष्म शरीर में अवस्थित चक्रों और ग्रंथियों को जप ध्वनि का अनवरत प्रभाव अपने ढंग से प्रभावित करता है और उत्पन्न हुई हलचल उनकी मूर्च्छना दूर करके जाग्रति का अभिनव दौर उत्पन्न करती है। ग्रंथि-भेदन तथा चक्र जागरण का सत्परिणाम जपकर्ता को प्राप्त होता है। जगे हुए ये दिव्य संस्थान साधक में आत्मबल का नया संचार करते हैं। उसे ऐसा कुछ अपने भीतर जगा, उगा प्रतीत होता है, जो पहले नहीं था। इस नवीन उपलब्धि के लाभ भी उसे प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होते हैं।

टाइपराइटर के उदाहरण से इस तथ्य को और भी अच्छी तरह समझा जा सकता है। उँगली से चाबियाँ दबाई जाती हैं और कागज पर तीलियाँ गिरकर अक्षर छापने लगती हैं। मुख में लगे उच्चारण में प्रयुक्त होने वाले कलपुरजों को टाइपराइटर की कुंजियाँ ही कह सकते हैं। मंत्रोच्चार उँगली से उन्हें दबाना हुआ। यहाँ से उत्पन्न शक्ति प्रवाह नाड़ी तंतुओं की तीलियों के सहारे सूक्ष्म चक्रों और दिव्य ग्रंथियों तक पहुँचता है और उन्हें झकझोरकर जगाने, खड़ा करने में संलग्न होता है। अक्षरों का छपाना वह उपलब्धि है, जो इन जाग्रत् चक्रों द्वारा रहस्यमयी सिद्धियों के रूप में साधक को मिलती है। यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि यदि जपयोग को विधिवत् साधा गया होगा, तो उसका सत्परिणाम उत्पन्न होगा ही।

पुलों पर होकर गुजरती हुई सेना को पैर मिलाकर चलने की—ध्वनि प्रवाह उत्पन्न करने की मनाही कर दी जाती है। पुलों पर से गुजरते समय वे बिखरे हुए स्वच्छतापूर्ण कदम बढ़ाते हैं। कारण यह है कि लेफ्ट-राइट से ठीक क्रम से तालबद्ध पैर पड़ने से जो एकीभूत शक्ति उत्पन्न होती है, उसकी अद्भुत शक्ति के प्रहार से मजबूत पुलों में दरार पड़ सकती है और भारी नुकसान हो सकता है। मंत्र जप के क्रमबद्ध उच्चारण से उसी प्रकार का तालक्रम उत्पन्न होता है और उसके फलस्वरूप शरीर के अंतःसंस्थानों में विशिष्ट हलचल उत्पन्न होती है। ये हलचलें उन आलौकिक शक्तियों की मूर्च्छना दूर करतें हैं, जो जाग्रत् होने पर सामान्य मनुष्य को असामान्य चमत्कारों से संपन्न सिद्ध कर सकती हैं।

हाथों को लगातार थोड़ी देर तक घिसा जाए, तो वे गरम हो जाते हैं। रगड़ से गरमी और बिजली पैदा होती है, यह नियम विज्ञान की प्रथम कक्षा में पढ़ने वाले छात्र भी जानते हैं। जप में अनवरत उच्चारण क्रम एक प्रकार का घर्षण उत्पन्न करता है। पत्थर पर रस्सी की रगड़ पड़ने से घिसाव के निशान बन जाते हैं। श्वास के आवागमन तथा रक्त की भाग-दौड़ से शरीर में गरमी उत्पन्न होती है और उसी पर जीवन अवलंबित रहता है। डायनमो में पहिया घूमने से बिजली उत्पन्न होने की बात सभी जानते हैं। जप में जो घर्षण

प्रक्रिया गतिशील होती है, वह दौड़ लगाने पर शरीर के उत्तेजित हो जाने की तरह सूक्ष्म शरीर में उत्तेजना पैदा कर रही है और उस गरमी से मूर्च्छित पड़ा अंतर्जगत् नए जागरण का अनुभव करता है। यह जागरण मात्र उत्तेजना नहीं होती वरन् उसके साथ-साथ दिव्य उपलब्धियों की संभावना भी जुड़ी रहती है।

ध्वनियाँ उतनी ही नहीं हैं जितनी कि कानों से सुनाई पड़ती हैं। कान तो एक निश्चित स्तर के ध्वनि कंपनों को ही सुन पाते हैं। उनकी पकड़ से ऊँचे और नीचे कंपनों वाले भी असंख्य ध्वनि प्रवाह होते हैं, जिन्हें मनुष्य के कान तो सुन नहीं सकते, पर उनके प्रभावों को उपकरणों की सहायता से प्रत्यक्ष देखा-जाना जा सकता है। इन्हें 'सुपर सोनिक' ध्वनि तरंगें कहते हैं।

मनुष्य की ग्रहण और धारण शक्ति सीमित है। वह अपनी दुबली-सी क्षमता के लिए उपयुक्त शब्द-प्रवाह ही पकड़ सके, इसी स्तर की कानों की झिल्ली बनी है। किंतु संसार तो शक्ति का अथाह समुद्र है और इसमें ज्वार-भाटे की तरह श्रवणातीत ध्वनियाँ गतिशील रहती हैं। अच्छा ही हुआ कि मनुष्य की ग्रहण शक्ति सीमित है और वह अपने लिए सीमित प्रवाह ही ले पाता है, अन्यथा यदि श्रवणातीत ध्वनियाँ भी उसे प्रभावित कर सकतीं, तो जीवन धारण ही संभव न हो पाता।

शब्द की गति साधारणतया: बहुत धीमी है। वह मात्र कुछ सौ फुट प्रति सेकंड चल पाती है। तोप चलने पर धुआँ पहले दीखता है और धड़ाके की आवाज पीछे सुनाई पड़ती है। जहाँ दृश्य और श्रव्य का समावेश है, वहाँ हर जगह ऐसा ही होगा। दृश्य पहले दीखेगा और उस घटना के साथ जुड़ी हुई आवाज कान तक पीछे पहुँचेगी।

रेडियो प्रसारण में एक छोटी-सी आवाज को विश्वव्यापी बना देने और उसे १ लाख ८६ हजार मील प्रति सेकंड की चाल से चलने योग्य बना देने में इलेक्ट्रोमैगनेटिक तरंगों का ही चमत्कार होता है। रेडियाविज्ञानी मानते हैं कि 'इलेक्ट्रोमैगनेटिक' वेव्स पर साउण्ड का सुपर कम्पोज रिकार्ड कर दिया जाता है और वे पलक मारते सारे संसार की परिक्रमा कर लेने जितनी शक्तिशाली बन जाती हैं।

इलेक्ट्रोमैगनेटिक तरंगों की शक्ति से ही अंतरिक्ष में भेजे गए रॉकेटों की उड़ान को धरती पर से नियंत्रित करने, उन्हें दिशा और संकेत देने, यांत्रिक खराबी दूर करने का प्रयोजन पूरा किया जाता है। वे 'लेसर' स्तर की बनती हैं, तो शक्ति का ठिकाना नहीं रहता। एक फुट मोटी लोहे की चद्दर में सुराख कर देना उनके बायें हाथ का खेल है। पतली वे इतनी होती हैं कि आँख की पुतली के लाखवें हिस्से में खराबी होने पर मात्र उतने ही टुकड़े का निर्धारित गहराई तक ही सीमित रहने वाला सफल आपरेशन कर देती हैं। अब इन किरणों का उपयोग चिकित्सा क्षेत्र में बहुत होने लगा है। कैंसर, आंत्रशोथ, यकृत की विकृति, गुरदे की सूजन, हृदय की धड़कन जैसी बीमारियों की चिकित्सा में इनका सफल उपयोग होता है।

'सुपर सोनिक' तरंगों का जप प्रक्रिया के द्वारा उत्पन्न और समन्वय होता है। जप के समय उच्चारण किए गए शब्द—आत्म निष्ठा, श्रद्धा एवं संकल्प शक्ति का समन्वय होने से वहीं क्रिया संपन्न होती है, जो रेडियो स्टेशन पर बोले गए शब्द—विशिष्ट विद्युत् शक्ति के साथ मिलकर अत्यंत शक्तिशाली हो उठते हैं और पलक मारते समस्त भूमंडल में अपना उद्देश्य प्रसारित कर देते हैं। जप प्रक्रिया में एक विशेषता यह है कि उससे न केवल समस्त संसार का वातावरण प्रभावित होता है, वरन् साधक का व्यक्तित्व भी झनझनाने, जगमगाने लगता है। जबकि रेडियो स्टेशन से प्रसारण तो होता है, पर कोई स्थानीय विलक्षणता दिखाई नहीं पड़ती। लेसर-रेडियम किरणें फेंकने वाले यंत्रों में कोई निजी प्रभाव नहीं देखा जाता, वे उन स्थानों को ही प्रभावित करते हैं, जहाँ उनका आघात लगता है। जप-प्रक्रिया में साधक को और वातावरण को प्रभावित करने की वह दुहरी शक्ति है—जो नव वैज्ञानिकों के सामान्य यंत्र-उपकरणों में नहीं पाई जाती है।

जप में शब्दों की पुनरावृत्ति होते रहने से उच्चारण का एक चक्रव्यूह सर्किल बनता है। क्रमिक परिभ्रमण से शक्ति उत्पन्न होती है। पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है। उस परिभ्रमण से आकर्षण शक्ति तथा भूलोक में सन्निहित अनेक स्तर की क्षमताएँ उत्पन्न होती

हैं। यदि पृथ्वी का परिभ्रमण बंद हो जाए, तो उस पर नीरसता, निर्जीवता एवं अशक्तता छा जाएगी। शक्ति उत्पादन के लिए परिभ्रमण कितना आवश्यक है, इसे 'डायनमो' के प्रयोगकर्ता जानते हैं। घुमाव बंद होते ही बिजली बनना बंद हो जाती है। स्थूल और सूक्ष्म शरीर में विशिष्ट स्तर के विद्युत् प्रवाह उत्पन्न करने के लिए विशिष्ट शब्दों का विशिष्ट गति एवं विधि से उच्चारण करना पड़ता है। मंत्र जप का सामान्य विज्ञान यही है।

जप में एक शब्दावली को एक क्रम और एक गति से बिना विश्राम दिए गतिशील रखा जाता है। साधारण वार्तालाप में अनेकों शब्द अनेक अभिव्यक्तियाँ लिए हुए अनेक रस और भावों सहित उच्चारित होते हैं। अस्तु, इनमें न तो एकरूपता होती है और न एक गति। कभी विराम, कभी प्रवाह, कभी आवेश व्यक्त होते रहते हैं, पारस्परिक वार्तालाप में प्रतिपादन का एक केंद्र या एक स्तर नहीं होता। अतएव उससे वार्ताजन्य प्रभाव भर उत्पन्न होता है, कोई विशिष्ट शक्तिधारा प्रवाहित नहीं होती। जप की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। उसमें सीमित शब्दावली ही प्रयुक्त होती है और वही लगातार बोली जाती रहती है। रेखागणित के विद्यार्थी जानते हैं कि एक रेखा यदि लगातार सीधी खींची जाती रहे, तो वह अंततः उसी केंद्र से आकर जुड़ जाएगी, जहाँ से आरंभ हुई थी। प्रत्येक गतिशील पदार्थ गोल हो जाता है। पृथ्वी गोल है। ग्रह-नक्षत्र सभी गोल हैं। भौतिक जगत् का छोटा घटक परमाणु और चेतन जगत् का छोटा घटक जीवाणु दोनों ही गोल हैं। गोलाई पर चलते रहा जाए तो उसका अंत-आरंभ वाले स्थान पर ही होगा। ग्रह-नक्षत्रों की भ्रमण कक्षाएँ इसी आधार पर सुनिश्चित रहती हैं। सीधी रेखा में हम पृथ्वी की परिक्रमा करने निकल पड़ें तो लौटकर वहीं आ जाएँगे, जहाँ से चले थे। इस सिद्धांत के अनुसार मंत्र-जप की परिणति एक गतिशील शब्द चक्र की स्थापना के रूप में होती है।

कहा जाता है कि वाल्मीकि ऋषि ने उलटा मंत्र जपा था अर्थात् "राम-राम" के स्थान पर "मरा-मरा" कहा था। वस्तुतः यह सुनने-समझने वालों का ही भ्रम रहा होगा। लगातार एक ही गतिक्रम

से राम-राम कहते रहने पर उसकी गति गोल हो जाएगी और उसे आसानी से मरा-मरा समझा जा सकेगा। इसी प्रकार मरा-मरा मंत्र का संकल्प लेकर किया गया उच्चारण भी राम-राम प्रतीत होने लगेगा। असल में होता यह है कि एक शब्दावली को अनवरत गति में बोलने पर उसमें आदि-अंत का भेद नहीं रहता, पूरी शब्दावली एक गोलाई में घूमने लगती है और शब्द-चक्र बनाती है। मंत्र जप के विधान का निर्देश करते हुए "तैलधारवत्" सूत्र में कहा गया है कि जिस तरह तेल को एक गति से गिराने पर उसकी धारा बँध जाती है, उसी प्रकार मंत्रोच्चारण का क्रम एक ही गति से चलाना चाहिए। न उसके प्रवाह क्रम में अंतर आए और न उच्चारण स्तर में। रुक-रुककर—कभी धीमे, कभी तीव्र, कभी उच्च स्तर, कभी मंद, ऐसा जप में नहीं हो सकता। वेदमंत्रों के सस्वर उच्चारण की बात दूसरी है। वे छंद हैं, इसलिए पाठ करते समय उन्हें स्वरबद्ध अनुशासन का ध्यान रखते हुए गाया जाना अथवा पाठ करना उचित है। जप की व्यवस्था इससे सर्वथा भिन्न है। गायत्री, मृत्युंजय आदि वेदमंत्रों को भी जप करते समय स्वररहित ही जपा जाता है, साथ ही धारा जैसी एकरस—एकसम गति बनाए रखी जाती है। इसमें कोई अंतर तो नहीं पड़ा, इसकी जाँच-पड़ताल माला के आधार पर की गई गणना से होती है। गायत्री मंत्र जप में साधारणतया एक घंटे में १०-११ मालाएँ होती हैं। नित्य वही क्रम चला या नहीं, इसकी जाँच-पड़ताल घड़ी और माला के समन्वय से हो सकती है। प्रत्येक माला पूरी होने में समान समय लगना चाहिए, तभी मंत्र शक्ति का वैज्ञानिक आधार बन गया—ऐसा समझा जा सकता है। भक्ति-विभोर होकर बिना गति का ध्यान रखे भी जप हो सकता है, पर वह भावनात्मक प्रक्रिया हुई, उसका परिणाम भावना की शुद्धता और गहराई पर निर्भर है। ऐसे जप को शब्द शक्ति के आधार पर उत्पन्न होने वाले मंत्र जप से भिन्न स्तर का समझा जाना चाहिए। ब्लड प्रेशर नापने की मशीन रोगी की बाँह पर बाँधकर डॉक्टर घड़ी पर निगाह लगाए रहते हैं, हवा का दबाव बढ़ाते रहते हैं, कान में स्टेथिस्कोप से धड़कन गिनते रहते हैं, तभी वे समझ पाते हैं कि रक्तचाप कितना है? घड़ी और

माला-गणना पर ध्यान लगाए रहकर नए साधक को अपने जप की गति को एकरस—एकसम बनाना पड़ता है। उतना बन पड़े तो समझना चाहिए कि शब्द-गति का चक्र बन गया और उसके आधार पर मंत्र विज्ञान के विशिष्ट परिणाम उत्पन्न होंगे। विशेष पुरश्चरणों में जप विद्या के निष्णात साधक इसीलिए बिठाए जाते हैं कि उनकी सही क्रम-प्रक्रिया, सही परिणाम उत्पन्न कर सके।

गति जब गोलाई में घूमने लगती है, तो उससे उत्पन्न होने वाले चमत्कार हम अपने दैनिक जीवन में नित्य ही देखते रहते हैं। बच्चे छोटी 'फिरकनी' अथवा लट्टू जमीन पर घुमाने का खेल खेलते हैं। एक बार होशियारी से घुमा देने पर ये खिलौने देर तक अपनी धुरी पर घूमते रहते हैं और गिरते नहीं, जबकि गति बंद होते ही वे जमीन पर गिर जाते हैं। यह गति का चमत्कार ही है कि एक बार का धक्का देर तक काम देता है और उत्पन्न गति प्रवाह को देर तक चलते रहने की स्थिति उत्पन्न करता है। जप के द्वारा उत्पन्न गति भी साधना काल के बहुत पश्चात् तक चलती रहती है और साधक की आत्मिक विशेषता को गतिशील एवं सुस्थिर बनाए रहती है।

मशीनों का बड़ा पहिया 'फ्लाईह्वील' एक बार घुमा देने पर मशीन के अन्य पुरजों को न केवल गतिशील ही करता है, वरन् उनकी चाल को नियंत्रित भी करता है। आरी का उपयोग हाथ से आगे-पीछे की गति से करने पर भी लकड़ी कटती तो है, पर यदि गोलाई में घुमा दिया जाए, तो वह आरी कई गुनी शक्तिशाली सिद्ध होगी और अधिक मात्रा में—अधिक जल्दी कटाई कर सकेगी। आरा मशीनें यही करती हैं। वे मोटे-मोटे लट्ठे और कठोर जड़ें आसानी से चीर-चारकर रख देती हैं, जबकि आगे-पीछे करने पर उसी आरी के लिए लकड़ी काटना काफी कठिन पड़ता है। यह सब गोलाई में घूमने वाले गति प्रवाह का चमत्कार है।

तेजी के साथ गोलाई का घुमाव "सेंट्रीफ्यूगल कोर्स" उत्पन्न करता है। गोफन में कंकड़ रखकर घुमाने और उसे छोड़कर पक्षी भगाने का कार्य पकी फसल रखाने के लिए किसानों को बहुधा करना पड़ता है। ज्वार, बाजरा, मक्का जैसे खुले दाने की फसलों को

अक्सर तोते, कौए खराब करने लगते हैं, तब यह गोफन घुमाकर कंकड़ फेंकने की प्रक्रिया रखवाली के काम आती है। यह घुमाव से उत्पन्न हुई शक्ति ही है, जो कंकड़ को गोली जैसी गति के साथ दूर तक फेंक सकती है। वह कंकड़ इतनी तेजी पर होता है कि कोई पक्षी उसका निशाना बन जाने पर ढेर होकर ही रहता है।

देहाती मेलों में हवाई जहाज उड़ने अथवा घोड़े दौड़ने का मजा देने वाले झूले आते हैं। बच्चे उन पर बैठकर मजा लेते हैं। यह झूले अक्सर इंजन या मोटर से चलते हैं। घुमाव पकड़ते ही नीचे लटकने वाले घोड़े या जहाज पंख फैलाने लगते हैं और चौड़े दायरे में घूमने लगते हैं। खड़े होने पर झूले का घेरा ३० फुट था, जो तेजी से घूमने पर वह चाल के अनुपात से ७०-८० फुट तक चला जाता है। फैलाव तो होता ही है और साथ ही बैठने की सीटें तिरछी हो जाने पर भी बच्चे गिरते नहीं। यहाँ तक कि तिरछेपन के कारण गिरने का डर भी उन्हें नहीं लगता और अनुभव करते हैं कि वे सीधे सड़क पर चल रहे हैं।

सरकसों में एक लकड़ी के घेरे पर मोटरसाइकिल घुमाने का खेल अक्सर देखा जाता है, इसे मौत का कुआँ कहते हैं। दर्शक चकित रह जाते हैं कि साइकिल सवार बिलकुल तिरछा घूम रहा है, फिर भी गिरता नहीं।

लोटे में पानी भरा जाए, उसकी गरदन में रस्सी बाँधकर घुमाया जाए, तो पानी उस लोटे में ही भरा रहेगा, गिरेगा नहीं।

घुमाव की शक्ति के ये आश्चर्यचकित करने वाले परिणाम साधारणतः देखने में आते रहते हैं। जप के माध्यम से गतिशील शब्द शक्ति का प्रतिफल भी वैसा ही होता है। झूले पर बैठे बच्चों को जिस तरह अधिक बड़े दायरे में तेजी से घूमने का और गिरने की आशंका होने पर भी न गिरने का आनंद मिलता है, उसी प्रकार अंतःचेतना की सीमा-परिधि छोटी सीमा से बढ़कर कहीं अधिक व्यापक क्षेत्र तक अपना विस्तार देखती है और दुर्भावनाओं एवं दुष्प्रवृत्तियों के कारण अधःपतन की जो आशंका रहती है, उसके बचाव की सहज संभावना बन जाती है। गोफन द्वारा फेंके गए कंकड़

की तरह साधक अभीष्ट लक्ष्य की ओर द्रुत गति से दौड़ता है और यदि फेंकने वाले के हाथ सधे हुए हैं, तो वह ठीक निशाने पर भी जा लगता है। घुमाव की स्थिति में रहने पर तिरछा हो जाने पर भी लोटे का पानी नहीं फैलता। उसी प्रकार अपने भीतर भरे जीवनतत्त्व के, संसार के अवांछनीय आकर्षणों में गिर पड़ने का संकट घट जाता है। लोटा धीमे घुमाया गया हो, तो बात दूसरी है, पर तेजी का घुमाव पानी को नहीं गिरने देता। जप के साथ जुड़ा विधान और भावना स्तर यदि सही हो, तो आंतरिक दुष्प्रवृत्तियों से आये दिन जूझने और कदम-कदम पर असफल होने की कठिनाई दूर हो जाती है।

मौत के कुँए में मोटरसाइकिल घुमाने वाला सवार तिरछेपन और दौड़ने के लिए स्थान कम होने के कारण संकट उत्पन्न होने की आशंका से बचा रहता है। जप-साधना का साधक भी प्रगति के मार्ग में उत्पन्न होते रहने वाले अनेक अवरोधों पर विजय प्राप्त करता है और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी आगे बढ़ता चला जाता है।

औजारों से जो प्रयोजन सिद्ध होते हैं उनमें मात्र उन यंत्रों, मशीनों, पुरजों, उपकरणों का ही महत्त्व नहीं होता, उन्हें चलाने वाली शक्ति की भी अनिवार्य आवश्यकता रहती है। मशीनें स्व-संचालित कितनी भी कीमती क्यों न हो, बिजली, भाप की—हाथ की या अन्य किसी प्रकार की शक्ति उन्हें चलाने के लिए चाहिए ही। इसका प्रबंध न हो सका, तो बहुमूल्य मशीनों से सुसज्जित कारखाने में भी कुछ उत्पादन न हो सकेगा। जप आदि कर्मकांडों को औजार, उपकरण, मशीन आदि कहा जा सकता है। साधक का व्यक्तित्व उसका चरित्र, लक्ष्य, दृष्टिकोण एवं भावना स्तर मिलकर चेतनात्मक शक्ति के रूप में परिणत होता है और उसका बल पाकर शारीरिक हलचल मात्र दीखने वाले कर्मकांडों में दिव्य चेतना का संचार होता है। इस समन्वय के आधार पर साधना को सिद्धि बनने का अवसर मिलता है।

जप की पूर्णता ध्यान-साधना में

उच्चस्तरीय साधना विधान में मन की एकाग्रता स्थिर करने के लिए जप के साथ ध्यान की प्रक्रिया जोड़ी गई है, वस्तुतः ये एक-दूसरे के पूरक हैं। जब तक समाधि अवस्था नहीं मिल जाती, तब तक मन में संकल्प-विकल्प उठने स्वाभाविक हैं। किंतु अंतिम लक्ष्य मन की दौड़ को, आत्मिक चेतना में मिलाकर परमात्मा में घुला देने का ही है। अर्थात् ध्यान को ही विराट् की अनुभूति का अंग बना लेना ध्येय है। किंतु जब तक यह स्थिर न हो, जप का आश्रय अनिवार्य हो जाता है। इस तरह ये दोनों क्रियाएँ, अन्योन्याश्रित साधना मानी गई हैं। योग-साधनाओं में जप की तरह ही ध्यान की असीम महत्ता प्रतिपादित की गई है।

मनुष्य का मस्तिष्क अनंत शक्तियों का भांडागार है, पर कठिनाई एक ही है कि वे बिखरी रहती है और एक स्थान पर केंद्रित नहीं हो पातीं; इसलिए उनका अभीष्ट लाभ नहीं मिलता। यदि उन्हें एकाग्र किया जा सके, तो सामान्य स्तर का समझा जाने वाला मस्तिष्क भी तीक्ष्ण हो सकता है और आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है।

सूर्य की बिखरी हुई किरणें यदि आतिशी काँच द्वारा छोटे केंद्र पर एकत्रित की जा सकें, तो दो इंच घेरे की धूप में ही अग्नि प्रकट हो सकती है और अवसर पाकर दावानल का रूप धारण कर सकती है। एकाग्रता की भी ऐसी ही शक्ति है, मस्तिष्क का बिखराव यदि एक बिंदु पर इकट्ठा किया जा सके, तो कोई भी व्यक्ति अपने सामान्य मस्तिष्क से अद्‌भुत प्रतिभा का परिचय दे सकता है।

वैज्ञानिक, दार्शनिक, योगी, गणितज्ञ तथा अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य करने वाले एकाग्रता के अभ्यस्त होते हैं। यह अभ्यास उन्होंने किसी विशेष साधना-व्यायामों के सहारे पूरे किए हैं या दैनिक सामान्य कार्यों को ही दत्तचित्त होकर करते रहने से इस विशेषता का विकास कर लिया है, यह अलग बात है; पर इतना निश्चित है कि एकाग्रता

का अभ्यास किए बिना कोई प्रतिभाशाली मस्तिष्क भी महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकने में समर्थ नहीं हो सकता। क्या आध्यात्मिक, क्या भौतिक, दोनों ही क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा विकसित करने के लिए एकाग्रता का आश्रय लेना नितांत आवश्यक है। अस्त-व्यस्त, चंचल और बिखरी हुई मन: स्थिति के व्यक्ति न किसी बात पर गहराई से विचार कर सकते हैं और न प्रयासों के बीच आने वाले उतार-चढ़ावों के पक्ष-विपक्ष को समझ सकते हैं। तन्मय होकर अभीष्ट प्रयोजन में जुट जाने की विशेषता भी उनमें नहीं होती। अस्तु, कोई कहने लायक सफलता भी किसी क्षेत्र में उनके पल्ले नहीं पड़ती।

भौतिक और आध्यात्मिक जगत् में समान रूप से एकाग्रता को महत्त्व दिया जाता रहा है। योग की चित्तवृत्तियों के निरोध के रूप में महर्षि पातंजलि ने व्याख्या की है। योग-साधना में प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये चार अंग विशुद्ध रूप से एकाग्रता की प्रगति के चार चरण हैं। भाव, चिंतन और कर्तृत्व की तीन धाराएँ जहाँ समन्वित होती हैं, वहाँ मनुष्य तीर की तरह सनसनाता हुआ निकलता है और किसी भी लक्ष्य को बेधकर रख देता है। वैज्ञानिकों से लेकर तत्त्वदर्शियों तक की उपलब्धियों में मात्र एकाग्रता के अनुदान- उपहार हैं।

हम अपने बिखराव को रोककर नियत लक्ष्य की ओर द्रुत गति से बढ़ सकें, इसके लिए प्रत्येक कार्य को पूर्ण जागरूकता, अभिरुचि, तन्मयता और प्रसन्नता के साथ करने की आदत डालनी चाहिए। कर्मयोग के व्याख्याताओं ने श्रेष्ठ कर्म को ईश्वर की पूजा कहा है। श्रेष्ठ का अर्थ है—सदुद्देश्यपूर्ण और सुव्यवस्थित रीति से तैयार किया हुआ काम। यह एकाग्रता की अनवरत साधना ही होगी, यदि हम जागने से लेकर सोने तक के प्रत्येक कार्य को ईश्वरीय प्रयोजनों की पूर्ति के लिए अपना श्रद्धासिक्त उपहार मानें और उसे लाभ-हानि के तराजू पर न तौलकर अपनी मानसिक एवं शारीरिक स्तर की समीक्षा करते हुए परखें। यदि कोई कार्य पूरी जिम्मेदारी और सद्भावना के साथ करने पर भी असफल रहता है, तो इसके कर्ता को तनिक भी खिन्न होने की आवश्यकता नहीं। उसने अपना कर्तव्य पूरी

तरह निभाया, इतना भर होना किसी के लिए गर्व और गौरव की बात है, भले ही उसे सफलता न मिले।

विज्ञानी ऐडीसन अपने किसी प्रयोग में असफल होने पर इतना ही कहते थे—मैंने एक और ऐसा अनुभव बढ़ा लिया, जिसके आधार पर भविष्य में असफलता से बचा जा सकेगा।

आशावादी यदि दुर्घटना ग्रसित होगा, तो ईश्वर को धन्यवाद देगा कि उसका जीवन बच गया, मात्र थोड़ी-सी चोट लगी। इसके विपरीत निराशावादी थोड़ी-सी चोट के लिए भी अपने आप को, ईश्वर को और भाग्य को कोसता दिखाई पड़ेगा। इस प्रकार परिष्कृत दृष्टिकोण रखने वाला व्यक्ति हानि और लाभ दोनों ही परिस्थितियों में प्रसन्न रह सकता है और अपने लक्ष्य में बिना विचलित हुए एकांत निष्ठा बनाए रह सकता है।

एकाग्रता ईश्वरीय देन नहीं है और न वह वरदान की तरह किसी को प्राप्त होती है। उसे विशुद्ध रूप से एक 'अच्छी आदत' कहा जा सकता है, जो अन्य आदतों की तरह चिरकाल तक नियमित रीति-नीति अपनाने के कारण स्वभाव का अंग बनती है और व्यक्तित्व के साथ घनिष्ठतापूर्वक जुड़ जाती है।

एकाग्रता के दो पक्ष हैं, अभीष्ट विचारों से भिन्न प्रकार के विचारों को मस्तिष्क से हटाना और इच्छित विचारधारा का मनःक्षेत्र में अनवरत रूप से प्रवाहित रहना। आरंभ थोड़े समय से करना चाहिए। प्रयोग १५ मिनट से भी आरंभ किया जा सकता है। लेखन, अध्ययन, ध्यान आदि जो भी प्रयोजन हो, उसके आकर्षक पक्षों को सामने रखना चाहिए और पूर्ण उत्साह के साथ अभीष्ट विचारों में मन को गहराई तक डुबोना चाहिए। मन तब भागता है, जब अभीष्ट प्रयोजन में गहरी दिलचस्पी नहीं होती और उसके लिए पूरे उत्साह के साथ तन्मय होने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। बेगार भुगतने जैसी उदास मनःस्थिति में ही मन बेसिलसिले इधर-उधर भागता है। यदि चिंतन के विषय को उपयोगी, लाभदायक एवं आवश्यक मान लिया जाए, तो मन उसमें जरूर लगेगा। इतने समय तक पूरी तन्मयता रखी ही जानी है। वह संकल्प यदि पूरी दृढ़ता के

साथ प्रयोग से पूर्व कई बार दुहरा लिया जाए और उसी उत्साह से चिंतन में अपने आप को खो देने का प्रयत्न किया जाए, तो जल्दी ही सफलता मिलने लगती है।

लगातार बहुत समय तक एक ही विचार में डूबे रहने की अपेक्षा यही अच्छा है कि बीच-बीच में विश्राम ले लें और चिंतन की धारा में जो छोटे-मोटे मोड़ या विभाजन लाए जा सकते हों, उनमें तन्मयता को विभक्त कर लिया जाए। किसी विषय के कई पक्ष होते हैं। उनका पहले से ही वर्गीकरण कर लिया जाए और एकाग्र साधना के लिए जितना समय निर्धारित किया है, उसे उन खंडों के विभाजित क्रम के अनुसार काम में लाया जाए। स्वास्थ्य-संवर्द्धन के प्रश्न पर विचार करना हो, तो बिगड़ने के कारण, सुधार के लिए परिवर्तन—परिवर्तन के साधन आदि वर्गों में उसे बाँटा जा सकता है और निर्धारित क्रम से उन बातों पर विचार करते हुए चिंतन की शृंखला निर्धारित की जा सकती है।

मानसिक व्यायाम के रूप में एकाग्रता की साधना को ध्यानयोग कहते हैं। इसके दो भाग हैं। एक वह जो आमतौर से पूजा-प्रयोजन में काम आता है। किसी देवी-देवता के चित्र को आँखों से देखने और फिर नेत्र बंद करके सुदूर आकाश में अथवा मस्तिष्क के मध्य में प्रतिष्ठित देखना। ऐसे देवचित्रों के साथ तेजोवलय जुड़ा हुआ होने की भावना की जाती है। निराकार उपासना वाले मात्र सूर्य का या दीपक की लौ जैसे प्रकाशबिंदु का ध्यान करते हैं। इस आधार पर की गई साधना में चिंतन के बिखराव को एकत्रित करने का अवसर मिलता है। इष्ट देव के वाहन, आयुध, अलंकार, उपकरण आदि की विविधता, यह मन को एक सीमित क्षेत्र में चाहे जितनी दौड़ लगाते रहने का अवसर देती है। भावनिष्ठा जुड़ी होने से वह लाभ और भी अधिक बढ़ा-चढ़ा बन जाता है। उसके सत्परिणाम कई प्रकार की चमत्कारी अतींद्रिय सिद्धियों के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।

ध्यानयोग का दूसरा पक्ष है—किन्हीं विचारों के ऊहापोह में गहराई तक उतरते जाना। एकाग्रता में उभयपक्षीय पर्यवेक्षण

की—समुद्रमंथन जैसे विचारमंथन की पूरी गुंजाइश है। वैज्ञानिक और तत्त्वदर्शी अपने लक्ष्य चिंतन में निमग्न हो जाते हैं। इसका अर्थ मस्तिष्क को ठप्प करके किसी नियत बात को ही निरंतर सोचते रहना नहीं, वरन् यह है कि उस प्रसंग की सीमाओं में रहकर जितना अधिक विवेचन-विश्लेषण किया जा सकता हो, किया जाए। विषय की निर्धारित सीमा से बाहर न भागना ही ध्यान का प्रधान उद्देश्य है। यह सोचना मूर्खतापूर्ण है कि ध्यान में मस्तिष्क जड़ हो जाता है और किसी एक ही प्रतिमा अथवा विचार में डूबा रहता है। ऐसा मस्तिष्कीय संरचना को देखते हुए किसी सामान्य व्यक्ति के लिए संभव नहीं हो सकता। अर्द्ध मूर्च्छित स्तर की तथाकथित सामान्य अवस्था में किसी के लिए ऐसा होना संभव होता होगा, तो होता ही होगा; पर एकाग्रता को ध्यान-साधना के साधकों को वैसा संभव नहीं होता।

प्रतिमा पर अथवा किसी विचार-प्रक्रिया पर ध्यान एकाग्र करने के लिए नियत स्थान, नियत समय एवं नियत साधन प्रक्रिया अपनानी चाहिए। किसके लिए कौन समय, कैसा स्थान और क्या साधना विधान उपयुक्त रहेगा, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। यह व्यक्ति की मनःस्थिति और परिस्थिति पर निर्भर है। उसमें भिन्नताएँ रह सकती हैं। अपने परिवार में गायत्री मंत्र के जप और प्रकाश-ज्योति के ध्यान की परंपरा चल रही है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि अन्य कोई साधना सफल हो ही नहीं सकती। श्रद्धा और निष्ठा का समन्वय किसी भी प्रकार एवं विधान को सफलता के स्तर तक पहुँचा सकता है।

ध्यानयोग के पीछे कितने अति महत्त्वपूर्ण प्रयोजन छिपे हुए है। इस पुण्य-प्रक्रिया को अपनाकर मनुष्य अंतर्जगत् में प्रवेश करना और उसकी खोज-बीन करना सीखता है। बहिरंग जगत् में जो कुछ भी प्रिय लगता है, रसानुभूति होती है, वह अंतरंग की प्रतिक्रिया मात्र है। जिह्वा के रस तंतु संवेदनशील हों, तो ही भोजन में स्वाद की अनुभूति होगी। पेट ठीक हो, तो ही आहार का आनंद मिलेगा। यही बात अन्य इंद्रियों के संबंध में भी है। नेत्र ज्योति शिथिल हो गई हो

तो फिर सौंदर्य की अनुभूति कैसे होगी ? कान जवाब दे चुके हों तो मधुर गायन और सारगर्भित श्रवण में कुछ रस न रह जाएगा ? नपुंसकता की तरह ही मन की प्रखरता और संवेदनशीलता के कारण ही सामान्य परिस्थितियों में स्वर्ग जैसा उत्साह अथवा नरक जैसा असंतोष देखा जा सकता है। एक ही स्थिति, एक व्यक्ति को एक प्रकार की और दूसरे को उससे ठीक विपरीत दूसरे तरह की लगती है। यह चिंतन और दृष्टिकोण का अंतर ही है जिसके कारण वस्तुओं और व्यक्तियों से चित्र-विचित्र प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं।

अंतर्जगत् को सुव्यवस्थित बना लिया जाए, तो बाह्य जगत् में जो विपन्नताएँ घिरी रहती हैं, वे देखते-देखते सामान्य एवं सुखद बन जाती हैं। अपना व्यवहार बदलते ही दूसरों के स्नेह-सद्भाव की प्रतिक्रिया उभरने लगती है। अपना चिंतन सुलझ जाने पर संतुलन और तालमेल बैठते देर नहीं लगती। आत्मीयता के व्यापक होते ही सर्वत्र अपनापन फैला दीखता है और हर वस्तु अपनी दीखने के कारण रुचिर और सुखद लगने लगती है। कण-कण में ईश्वर की झाँकी का ब्रह्मानंद मिलने में अपनी चिंतन की विकृति के अतिरिक्त और कोई बाधा नहीं है।

अंतरंग को देखने, परखने, सुधारने—सुविकसित और सुसंस्कृत करने का परम पुरुषार्थ तभी बन पड़ता है, जब भीतर प्रवेश करने का द्वार खुले। इसका प्रथम चरण ध्यान है। ध्यान द्वारा अंतर्मुखी होने की आदत पड़ती है। तत्त्वदर्शन के संबंध में मनन और चिंतन कर सकना संभव होता है। आत्म सत्ता की स्थिति, आकांक्षा एवं आवश्यकता को समझने और तदनुरूप साधन जुटाने की बात तब बनती है, जब अंतर्जगत् को ठीक तरह देख और समझ सकना संभव हो सके। यह कार्य ध्यान में तीक्ष्णता उत्पन्न होने पर ही बन पड़ता है।

ध्यान का दूसरा लाभ एकाग्रता संपादन का है। चित्तवृत्तियाँ प्रायः अनियंत्रित और उच्छृंखल बनी अव्यवस्थित रूप से अस्त-व्यस्त परिभ्रमण करती रहती हैं। इस बिखराव में बहुमूल्य मानसिक शक्तियों का अपव्यय ही होता है। बहुत करके तो चिंतन

की इस विशृंखला के साथ-साथ अवांछनीय तत्त्व ही लिपट पड़ते हैं। कहते हैं कि "खाली दिमाग शैतान की दुकान।" यदि विचारों को व्यवस्थित एवं उपयोगी कर्मों में न लगाया जाएगा, तो उसके अभाव का लाभ आसुरी तत्त्व उठाएँगे और पतनोन्मुख पशु-प्रवृत्तियों का मन:क्षेत्र पर अधिकार सघन होता जाएगा। एकाग्रता से बिखराव सिमटता है और उससे शक्ति उत्पन्न होती है।

अनियंत्रित विचार शोक, क्रोध, व्यामोह, विलाप, ईर्ष्या, चिंता, भय, निराशा आदि की निषेधात्मक गलियों में भटकते रहते हैं और स्वल्प कारणों को लेकर भयंकर मानसिक विक्षोभ उत्पन्न करते हैं। फलत: जीवन का सारा आनंद नष्ट हो जाता है और पग-पग पर जलने, झुलसने जैसा कष्ट सहना पड़ता है। ध्यान द्वारा विचारों को पकड़ने और एक दिशा से हटाकर दूसरी में नियोजित करने की क्षमता उत्पन्न होती है। यह कहने-सुनने में छोटी किंतु व्यवहार में अति महत्त्वपूर्ण विशेषता है। यदि कोई व्यक्ति अपनी प्रचंड मनस्विता के सहारे क्रोध, शोक, कामुकता जैसे उभारों को वशवर्ती करने और चिंतन की धारा तत्काल किसी उपयोगी प्रयोजन में लगा देने की विशेषता प्राप्त कर ले, तो समझना चाहिए उसने भव-बंधनों को काट लिया और स्वर्गीय आनंद को करतलगत कर लिया।

हर कोई जानता है कि असफलताओं के कारण में साधना की कमी अथवा परिस्थितियों की प्रतिकूलता उतनी बाधक नहीं होती, जितनी चित्त की चंचलता। आधे-अधूरे मन से उपेक्षा और अन्यमनस्कता के साथ किए गए कार्य प्राय: अस्त-व्यस्त ही रहते हैं और उनकी प्रतिक्रिया, भर्त्सना एवं असफलता के रूप में ही सामने आती है। यदि तन्मयता और तत्परता के साथ कार्य किए जाएँ, तो कालिदास, वरदराज जैसे मंदबुद्धि लोग भी उच्चकोटि के विद्वान् बन सकते हैं। शारीरिक क्षमता के प्रति उदासीनता का अर्थ है—आलस्य। मानसिक दक्षता का उपयोग न करने की प्रवृत्ति को कहते हैं—प्रमाद। सर्वविदित है कि मनुष्य की दरिद्रता और दुर्दशा का बहुत कुछ उत्तरदायित्व आलस्य और प्रमाद का ही होता है। इन दोनों महाशत्रुओं की जननी चित्त की चंचलता है। ध्यान का उद्देश्य

चंचल चित्त को मजबूत रस्सों से कसकर नियत प्रयोजन में लगा देने की दक्षता प्राप्त कर लेना है। मनोनिग्रह इसी को कहते हैं।

योगविद्या में मनोनिग्रह का बहुत महत्त्व बताया गया है। मन को वश में कर लेने पर सब कुछ वश में हो जाता है। निग्रहीत मन को कल्पवृक्ष कहा गया है और उसकी चमत्कारी उपलब्धियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि मूर्द्धन्य स्तर के लोग—वैज्ञानिक, कलाकार, साहित्यकार, साधन-संपन्न, प्रगतिशील, श्रेयाधिकारी महामानव—मनोनिग्रह के सहारे ही ऊँचे उठे और सफलता के शिखर तक पहुँचे हैं। भौतिक, आत्मिक अथवा दोनों क्षेत्रों की समन्वित सफलता मानसिक दक्षता को अभीष्ट प्रयोजन में नियोजित किए रह सकने की विशेषता पर निर्भर है। यही आत्म नियंत्रण धैर्य, साहस, संकल्प-बल, दृढ़ चरित्र आदि के रूप में सद्गुण बनकर प्रकट परिलक्षित होता है। सफलताएँ इसी मनन स्थिति के चरण रही हैं और यही क्रम अनंत काल तक बना रहेगा।

ध्यान का तीसरा लाभ है—संकल्प शक्ति की परिपक्वता। शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श के विभिन्न उपचारों से कई प्रकार के अभ्यास साधकों को कराए जाते हैं। माहात्म्य तो देवताओं, मंत्रों, दृश्यों, आवाजों का बताया जाता है और उनके साथ तन्मयतापूर्वक मनःचेतना को लपेटे रहने का निर्देश गुरुजनों द्वारा दिया जाता है। इसके पीछे मूल लाभ एक ही है कि विचार-प्रवाह की अस्त-व्यस्तता रोक सकने वाली सीमित बिंदु पर ध्यान जमाए रहने वाली प्रचंड संकल्प शक्ति का उद्भव विकास किया जाए। साधारणतया विचारों की दौड़ बेलगाम होती है, जंगली हिरनों की तरह वे किसी भी दिशा में दौड़ते हैं और किसी का अंकुश स्वीकार नहीं करते। इन्हें नियंत्रित करने के लिए ध्यान-धारणा के चित्र अथवा शब्द गढ़े जाते हैं। देवताओं के तथा प्रकाश आदि के चित्रों पर अथवा नाद योग के आधार पर चित्र-विचित्र ध्वनियों पर विचार शक्ति को—कल्पना एवं भावना को गहन श्रद्धा के साथ नियोजित किया जाता है। इसमें उतनी सफलता मिलती है, जितनी कि विचारों पर हावी हो सकने वाली

संकल्प शक्ति प्रचंड होगी। वस्तुतः ध्यान-धारणा का सारा उपक्रम उस संकल्प शक्ति को प्रबल बनाता है, जो रिंग मास्टर द्वारा सरकस के जानवरों को हंटर के बल पर नचाने की तरह विचारों को किसी भी केंन्द्र पर केंद्रित कर देने में सफल हो सकती है।

यह संकल्प-बल ही प्राणबल, आत्मबल, ब्रह्मवर्चस् आदि नामों से पुकारा गया है। इसी विद्युत्धारा को अंतरंग की प्रसुप्त क्षमताओं के ऊपर फेंका और उन्हें जाग्रत् किया जाता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में एक-से-एक अद्भुत शक्ति संस्थान छिपे पड़े हैं। इन्हें ढूँढ़ निकालना और परिष्कृत कर सकना इन्हीं संकल्पों की केंद्रीय शक्ति के लिए संभव है। अतींद्रिय क्षमता जगाने का यही एकमात्र उपकरण है। एक ही बंदूक से अनेक शत्रुओं को धराशायी बनाया जा सकता है। एक ही कलम से विभिन्न स्तर के लेख लिखे जा सकते हैं। एक ही खेत में कई प्रकार की फसलें उग सकती हैं। एक ही रुपये से कई वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं। एक ही मनुष्य कई तरह के कृत्य कर सकता है। ठीक इसी प्रकार एक ही प्रचंड संकल्प शक्ति से अंतर्जगत् के कितने ही शक्ति संस्थानों को जगाया-उठाया जा सकता है। एक ही क्रेन कितने ही भारी-भरकम पार्सलों को उठाती-चढ़ाती रहती है। मनोबल के सहारे वजनदार षटचक्रों, उपत्यिकाओं तथा अंतर्मन की गहरी दबी-गढ़ी परतों को उभारा उठाया जा सकता है। सूर्य उदय होता है, तो प्राणधारियों में सक्रियता का संचार होता है। मनोबल का सूर्य जिस भी क्षेत्र में अपनी प्रकाश किरणें फेंकता है, उसी की आभा निखरने लगती है।

मनुष्य में जन्मजात रूप से ईश्वरीय अंश उतना ही जाग्रत् रहता है, जिससे पेट-प्रजनन का सामान्य निर्वाह-क्रम सरलतापूर्वक चलता रह सके। शेष दिव्य क्षमताओं के भंडार प्रसुप्त स्थिति में पड़े होते हैं, उन्हें प्रयत्नपूर्वक जाग्रत् करना पड़ता है। अतींद्रिय क्षमताओं की आए दिन चर्चा होती रहती है। बहुत-से व्यक्तियों में कितने ही प्रकार की अलौकिकताएँ पाई जाती हैं। यह उनके साधना प्रयासों का अथवा पूर्वसंचित जागरण प्रयत्नों का प्रतिफल होता है। जीवात्मा क्रमशः महात्मा, देवात्मा, परमात्मा स्तर पर विकसित होती है और

लघु से महान् बनती है। ये सफलताएँ किसी दूसरे का दिया हुआ अनुग्रह-उपकार नहीं होता, वरन् आत्म सत्ता के क्रमिक विकास की प्रतिक्रिया ही होती है। जिस उपकरण के माध्यम से यह प्रगति-क्रम अग्रसर होता है, उसे मनोबल ही कह सकते हैं। इस पेट्रोल के बिना कोई मोटर किसी भी सड़क पर दौड़ लगाने में असमर्थ रहती है।

मनुष्य के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में एक-से-एक अद्‌भुत शक्ति केंद्रों के समुच्चय विद्यमान हैं। अल्पज्ञ जीव सर्वज्ञ बन सके और असमर्थ दीखने वाला व्यक्ति सर्वसमर्थ स्तर तक पहुँच सके, ऐसी संभावनाएँ मौजूद हैं। प्रश्न प्रसुप्ति को जागृति में बदलने का है। इसी प्रयत्न-पुरुषार्थ को योग- साधना कहते हैं। योग-साधना की प्रधान क्षमता मनोबल है। संकल्प-बल के प्रहार से शक्ति संस्थानों का समुद्र मंथन होता है और उसी में से सिद्धियों की रत्न राशि निकलकर ऊपर आती है।

ध्यान एक प्रकार का व्यायाम है, जिसमें प्रत्याहार और धारणा के समय पक्ष पूरे करने पड़ते हैं। प्रत्याहार का अर्थ है—अनुपयुक्त चिंतन का बलपूर्वक प्रतिरोध करना और धारणा का तात्पर्य है, जो अभीष्ट है, उसे अंगीकार करने के लिए अतिशय आग्रह करना। यह सरकस में वन्य पशुओं को प्रशिक्षित करने जैसी प्रक्रिया है। ताड़ना और प्रलोभन की उलटी-सीधी चालें चलकर उद्‌दंड पशुओं को साधना पड़ता है। चित्तवृत्तियों की स्थिति भी लगभग वैसी ही है। साधने की सफलता में उन पशुओं को भी यश मिलता है और शिक्षक की कुशलता भी सराही जाती है। इन साधकों और सिद्धों की उपयोगिता बढ़ती है और उनका बढ़ा-चढ़ा मूल्यांकन होता है। यह ध्यान का ही चमत्कार है कि प्रत्याहार और धारणा की दंड-बैठक करते हुए साधक को मनोबलसंपन्न बनाने का अवसर मिलता है। चक्र-वेधन, कुंडलिनी जागरण, अतींद्रिय उन्नयन, दिव्य आभास, शक्ति-संचरण जैसी आध्यात्मिक उपलब्धियों का आधार बढ़ा हुआ संकल्प-बल ही होता है। ध्यान-साधना का यही सबसे बड़ा लाभ है।

ध्यान के ये प्रमुख लाभ हैं। व्यायामशाला में जाकर शरीर-बल उपार्जित किया जाता है और फिर उससे नीरोग काया, दीर्घ जीवन, प्रतियोगिता में विजय, अधिक उपार्जन, प्रभाव, वर्चस्व जैसे कितने ही लाभ मिलते रहते हैं। ठीक इसी प्रकार ध्यान की मानसिक व्यायाम प्रक्रिया से संकल्प शक्ति प्रखर एवं परिपक्व होती है और उससे चेतना की विशिष्टता का परिचय देने वाले अनेकानेक सत्परिणाम सामने आते हैं। समृद्धियों और विभूतियों से जीवन को सुख-संपदा से—शांति-संतोष से—वैभव-वर्चस्व से भर देने वाले अवसर जिस आधार पर मिलते हैं, उनमें शरीर-बल से भी बढ़कर मनोबल का स्थान है। कहना न होगा कि इस महान् उपलब्धि के अभिवर्द्धन में ध्यान-साधना से बढ़कर और कोई दूसरा सरल एवं सफल उपाय नहीं है।

छान्दोग्योपनिषद् के सप्तम अध्याय के छठे और सातवें खंड में ध्यानयोग को उपासना की उच्च कक्षा कहा गया है। नामोच्चार से बढ़कर वाक्, वाक् से भी बड़ा मन, मन से अधिक महत्त्वपूर्ण संकल्प और संकल्प से बलवत्तर चित्त को कहा गया है। नाम, जप, वाक् संयम, मनोनिग्रह, संकल्पोद्भव, चित्त निरोध—ये सब उपासना की क्रमिक भूमिकाएँ हैं। ध्यान इन सबसे ऊपर है।

मन को एक विशेष परिधि में दौड़ाने के लिए सधाना ध्यान है। निर्धारित परिधि के अंतर्गत ही ध्यान-चेष्टाएँ केंद्रित रहना साधना-क्रम की सही दिशा का संकेत है। मन की चंचलता से यदा-कदा उल्लंघन तो होगा, पर सतत प्रयत्न से यह उल्लंघन घटता जाएगा और मन सधता जाएगा।

ब्रह्मवर्चस् साधनाओं में साकार और निराकार दोनों प्रकार के ध्यान प्रयोग सम्मिलित हैं। जिनकी बौद्धिक क्षमताएँ विकसित न हों, ऐसे साधक अपनी चित्तवृत्तियों को निराकार अस्तित्व में टिका नहीं पाते, इसलिए साकार ध्यान की भी साधनाशास्त्रियों ने अनिवार्यता अनुभव की। मूर्तिपूजा का सिद्धांत इसी मान्यता के कारण बना और प्रचलित हुआ। गायत्री उपासना को माँ की उपासना भी कहते, प्रज्ञा शक्ति को आद्य शक्ति माँ का रूप दिया गया है। उपासक अपने

को उस महामहिमामयी दिव्य चेतना का अंश मानता है। इस अनुभूति को प्रगाढ़ करने के लिए निम्न ध्यान करना पड़ता है—

गायत्री महामंत्र का जप करते समय अपने को एक वर्ष आयु के छोटे बालक के रूप में अनुभव करना चाहिए और सर्वशक्तिमान् गायत्री माता की गोद में खेलने, क्रीड़ा-कल्लोल करने की भावना करनी चाहिए। उनका पयपान करते हुए यह अनुभूति जगानी चाहिए कि इस अमृत दूध के साथ मुझे आदर्शवादिता, उत्कृष्टता, ऋतंभरा-प्रज्ञा, सज्जनता एवं सदाशयता जैसी दिव्य, आध्यात्मिक विभूतियाँ उपलब्ध हो रही हैं और उनके माध्यम से अपना अंतःकरण एवं व्यक्तित्व महान् बनता चला जाता है।

ध्यान का स्वरूप नीचे दिया जाता है—

(१) प्रलय के समय बची हुई अनंत जलराशि में कमल के पत्ते में तैरते हुए बाल भगवान् का चित्र बाजार में बिकता है। वह चित्र खरीद लेना चाहिए और उसी के अनुरूप अपनी स्थिति अनुभव करनी चाहिए। इस संसार के ऊपर नील आकाश और नीचे नील जल के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। जो कुछ भी दृश्य पदार्थ इस संसार में थे, इस प्रलय काल में ब्रह्म के भीतर तिरोहित हो गए। अब केवल अनंत शून्य बचा है, जिसमें नीचे जल और ऊपर आकाश के अतिरिक्त और कोई वस्तु शेष नहीं है। यह उपासना भूमिका के वातावरण का स्वरूप है। पहले इसी पर ध्यान एकाग्र किया जाए।

(२) मैं कमल पत्र पर पड़े हुए एक वर्षीय बालक की स्थिति में निश्चिंत भाव से पड़ा क्रीड़ा-कल्लोल कर रहा हूँ। न किसी बात की चिंता है, न आकांक्षा और न आवश्यकता। पूर्णतया निश्चिंत, निर्भय, निर्द्वंद्व, निष्काम जिस प्रकार छोटे बालक की मनोभूमि हुआ करती है, ठीक वैसी ही अपनी है। विचारणा का सीमित क्षेत्र एकाकीपन के उल्लास में ही सीमित है। चारों ओर उल्लास एवं आनंद का वातावरण संव्याप्त है। मैं उसी की अनुभूति करता हुआ परिपूर्ण तृप्ति एवं संतुष्टि का आनंद ले रहा हूँ।

(३) प्रातःकाल जिस प्रकार संसार में अरुणिमायुक्त स्वर्णिम आभा के साथ भगवान् सविता अपने समस्त वरेण्य, दिव्य भर्ग,

ऐश्वर्य के साथ उदय होते हैं, उसी प्रकार उस अनंत आकाश की पूर्व दिशा में ब्रह्म की महान् शक्ति गायत्री का उदय होता है। उनके बीच अनुपम सौंदर्य से युक्त अलौकिक सौंदर्य की प्रतिमा जगद्धातृ गायत्री माता प्रकट होती हैं। वे हँसती-मुस्कराती अपनी ओर बढ़ती आ रही हैं। हम बालसुलभ किलकारियाँ लेते हुए उनकी ओर बढ़ते चले जाते हैं। दोनों माता-पुत्र आलिंगन आनंद से आबद्ध होते हैं और अपनी ओर से असीम वात्सल्य की गंगा-यमुना प्रवाहित हो उठती है। दोनों का संगम परम-पावन तीर्थराज बन जाता है।

माता और पुत्र के बीच क्रीड़ा-कल्लोल भरा स्नेह-वात्सल्य का आदान-प्रदान होता है। उसका पूरी तरह ध्यान ही नहीं, भावना-भूमिका में भी उतारना चाहिए। बच्चा माँ के बाल, नाक, कान आदि पकड़ने की चेष्टा करता है, मुँह, नाक में उँगली देता है, गोदी में ऊपर चढ़ने की चेष्टा करता है, हँसता, मुस्कराता और अपने आनंद की अनुभूति उछल-उछलकर प्रकट करता है, वैसी ही स्थिति अपनी अनुभव करनी चाहिए। माता अपने बालक को पुकारती है, उसके सिर-पीठ पर हाथ फिराती है, गोदी में उठाती, छाती से लगाती, दुलारती है, उछालती है, वैसी ही चेष्टाएँ माता की ओर से प्रेम-उल्लास के साथ हँसी-मुस्कान के साथ की जा रही हैं, ऐसा ध्यान करना चाहिए।

स्मरण रहे केवल उपर्युक्त दृश्यों की कल्पना करने से ही काम न चलेगा वरन् प्रयत्न करना होगा कि वे भावनाएँ भी मन में उठें, जो ऐसे अवसर पर स्वाभाविक माता-पुत्र के बीच उठती रहती हैं। दृश्य की कल्पना सरल है, पर भाव की अनुभूति कठिन है। अपने स्तर को वयस्क व्यक्ति के रूप में अनुभव किया गया तो कठिनाई पड़ेगी, किंतु यदि सचमुच अपने को एक वर्ष के बालक की स्थिति में अनुभव किया गया, जिसको माता के स्नेह के अतिरिक्त और यदि कोई प्रिय वस्तु होती ही नहीं, तो फिर विभिन्न दिशाओं में बिखरी हुई अपनी भावनाएँ एकत्रित होकर उस असीम उल्लास भरी अनुभूति के रूप में उदय होगी, जो स्वभावतः हर माता और हर बालक के बीच में निश्चित रूप से उदय होती हैं। प्रौढ़ता भुलाकर शैशव का

शरीर और भावना स्तर स्मरण कर सकना यदि संभव हो सका, तो समझना चाहिए कि साधक ने एक बहुत बड़ी मंजिल पार कर ली।

मन प्रेम का गुलाम है। मन भागता है, पर उसके भागने की दिशा अप्रिय से प्रिय भी होती है। जहाँ प्रिय वस्तु मिल जाती है, वहाँ वह ठहर जाता है। प्रेम ही सर्वोपरि प्रिय है। जिससे भी अपना प्रेम हो जाए, वह भले ही कुरूप या निरूप भी हो, पर लमता परमप्रिय है। मन का स्वभाव प्रिय वस्तु के आस-पास मँडराते रहने का है। उपर्युक्त ध्यान-साधना में गायत्री माता के प्रति प्रेम-भावना का विकास करना पड़ता है, फिर उसका सर्वांग सुंदर स्वरूप भी प्रस्तुत है। सर्वांग सुंदर प्रेम की अधिष्ठात्री गायत्री माता का चिंतन करने से मन उसी परिधि में घूमता रहता है। उसी क्षेत्र में क्रीड़ा-कल्लोल करता रहता है। अतएव मन को रोकने, वश में करने की एक बहुत बड़ी आध्यात्मिक आवश्यकता भी इस साधना के माध्यम से पूरी हो जाती है।

इस ध्यान-धारणा में गायत्री माता को केवल एक नारी मात्र नहीं माना जाता है। वरन् उसे सत्, चित्, आनंदस्वरूप समस्त सद्गुणों, सद्भावनाओं, सत्प्रवृत्तियों का प्रतीक, ज्ञान-विज्ञान का प्रतिनिधि और शक्ति-सामर्थ्य का स्रोत मानते हैं। प्रतिमा नारी की भले ही हो, पर वस्तुतः वह ब्रह्म चेतना की दिव्य ज्योति बनकर ही—अनुभूति में उतरे।

जब माता के स्तनपान का ध्यान किया जाए, तो यह भावना उठनी चाहिए कि यह दूध एक दिव्य प्राण है, जो माता के वक्षस्थल से निकलकर मेरे मुख द्वारा उदर में जा रहा है और वहाँ एक धवल विद्युत्धारा बनकर शरीर के अंग-प्रत्यंग—रोम-रोम में ही नहीं वरन् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, हृदय, अंतःकरण, चेतना एवं आत्मा में समाविष्ट हो रही है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरों में—अन्नमय कोश, मनोमय कोश, प्राणमय कोश, विज्ञानमय कोश, आनंदमय कोशों में समाए हुए अनेक रोगों-शोकों—कषाय-कल्मषों का निराकरण कर रहा है। इस पयपान का प्रभाव एक कायाकल्प कर सकने वाली संजीवनी रसायन जैसा हो रहा है। मैं नर से नारायण, पुरुष से

पुरुषोत्तम, अणु से विभु, क्षुद्र से महान् और आत्मा से परमात्मा के रूप में विकसित हो रहा हूँ। ईश्वर के समस्त सद्गुण धीरे-धीरे व्यक्तित्व का अंग बन रहे हैं। मैं द्रुत गति से उत्कृष्टता की ओर अग्रसर हो रहा हूँ। मेरा आत्म बल असाधारण रूप में प्रखर हो रहा है।

उच्च कक्षा निराकार ध्यान की आती है, जिसमें आत्मा तत्त्वतः अपने को परमात्मा में घुलाता है—आवश्यकता नहीं है कि ध्यान-साधना देवी-देवताओं और मंत्र-तंत्रों के आधार पर ही की जाए। यह सार्वभौम एवं सर्वजनीन प्रक्रिया है। आस्तिक-नास्तिक सभी इसे अपनाकर समान रूप से अपना मनोबल बढ़ा सकते हैं। चित्त की चंचलता का समाधान, एकाग्रता का अभिवर्द्धन जिस उपाय से बन पड़े, उसे ध्यान कहा जा सकता है। अंतः क्षेत्र में घुसी हुई पशु-प्रवृत्तियों के स्थान पर दैवी तत्त्वों की स्थापना के लिए जो प्रयत्न किए जाएँ, उन्हें धारणा वर्ग का कहा जाएगा। इसके लिए किसी पुष्प को भी माध्यम बनाया जा सकता है। देवताओं के स्थान पर किन्हीं महामानवों के व्यक्तित्व एवं चरित्र को ध्यान-धारणा के लिए चुना जा सकता है।

ब्रह्मवर्चस् साधनाओं का चूँकि गायत्री से सीधा संबंध है। गायत्री का देवता सविता है, अतएव निराकार ध्यान के लिए सूर्य का ध्यान किया जाता है। सामान्य जप के साथ भी सूर्य तेज मध्यस्था भगवती गायत्री का ध्यान करते हैं। निराकार ध्यान में माँ की छवि का स्थान सविता का तेजोवलय ले लेता है। भावना करनी पड़ती है कि हमारे प्राण अंतरिक्ष की यह विशाल दूरी पार करने के लिए निकल पड़े हैं। पृथ्वी और आकाश के विविध काल्पनिक दृश्यों को मानस-पटल पर उभारना पड़ता है। धीरे-धीरे प्राणों को सविता के प्रकाश में डुबो देते हैं, मन हठात् भागना चाहे, तो अनंत सितारों के जगमग के दृश्य दिखाकर उसे फिर उसी सूर्यतेज में उतारा जाए। भावना की जाए कि अपनी सारी कालिमा, पाप-ताप और अहंताएँ नष्ट होती जा रही हैं। मुझ में और सविता के प्रकाश में कोई अंतर नहीं रहा, मैं ही समस्त सौरमंडल में प्रभासित हो रहा हूँ। मेरे ही प्रकाश स्फुलिंग वृक्ष-वनस्पति बने हुए हैं, मेरी ही गति से ब्रह्मांड

गतिमान् हो रहा है। साक्षी और द्रष्टा रूप में मैं सर्वत्र संचरण कर रहा हूँ। समस्त प्राणिजगत् में मेरा ही प्राण समाया हुआ है। सबके दुःख-दर्द, हँसी-खुशी, गति-अगति में निर्विकार भाव से मैं ही परिलक्षित हो रहा हूँ।

इस तरह का ध्यान जितना प्रगाढ़ होता जाता है, दिव्यदृष्टि का उतना ही विकास होता है। तन्मयता जितनी बढ़ेगी, पुलक और दिव्यता का अंश भी उतना ही बढ़ता चला जाएगा। मानवीय संकीर्णता उतने ही अंश में घटती चली जाएगी और अंतरात्मा अपने आप को उतना ही अधिक व्यापक अनुभव करता चला जाएगा।

एकांत, कोलाहल रहित स्थान में जहाँ शांति हो, ध्यान का अभ्यास किया जाता है। प्रारंभ में ध्यान का आधार किसी भौतिक माध्यम को भी बनाया जा सकता है। हम गुलाब के फूल से शुरू कर सकते हैं। एक चौकी पर हरे या नीले रंग का कपड़ा बिछाएँ। उस पर खिला हुआ गुलाब का फूल रखें। फूल की पंखुड़ियों की बनावट तथा रंगों के उतार-चढ़ाव और मध्यवर्ती पराग को गहराई के साथ देखते हुए बारीक विश्लेषण जैसा करते हुए एक-एक चीज मस्तिष्क में स्थिर करते जाएँ, मानो थोड़ी देर बाद परीक्षा में ये सब विवरण पूछे जाने वाले हैं। जब फूल देखते-देखते मन ऊबने लगे, तो फिर गुलाब से बनने वाली वस्तुओं की बाबत सोचें—गुलाबजल, इत्र, गुलकंद, फूलमाला आदि के बनने की विधि एवं इनके स्वरूप का स्मरण-मनन करें। गुलाब की खेती, उससे लाभ, गुलाब की आध्यात्मिक प्रकृति—काँटों के बीच संतोषपूर्वक रहना, हँसना-हँसाना, खिलना-खिलाना, परिवेश का सौंदर्य बढ़ाना, सुगंध और पराग का दान, प्रभु चरणों में समर्पण आदि का विचार करें। तात्पर्य यह कि घंटों गुलाब पुष्प पर ही सोचते रहें। उद्देश्य है—मन की अस्त-व्यस्त घुड़दौड़ को परिधिबद्ध व व्यवस्थित करना। अभ्यास से एकाग्रता बढ़ेगी, मन की भाग-दौड़ घटेगी।

यही अभ्यास किसी महापुरुष के जीवन-वृत्तांत को चिंतन की परिधि बनाकर किया जा सकता है। किसी गीत या श्लोक के

भावार्थ, संगीत की किसी धुन के विवेचन, किसी गुण विशेष जैसे ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसा, संयम, उदारता आदि का सुदीर्घ विश्लेषण-मनन आदि कोई भी आधार लिया जा सकता।

आत्मोत्कर्ष साधना में ईश्वरभक्ति का अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'परिपूर्ण व्यक्तित्व' के रूप में ईश्वर की अंतःकरण में प्रतिष्ठापना की जाती है और फिर उसमें आत्मसात् होने का भावभरा उपक्रम चलता है। इष्टदेव का अर्थ है—अपने विकास का अंतिम लक्ष्य। हम राम, कृष्ण, हनुमान्, सूर्य आदि नर-रूपकों में अथवा गायत्री, सरस्वती, लक्ष्मी आदि नारी कलेवरों में इष्टदेव का निर्धारण करते हैं और आत्मोत्कर्ष के उस शिखर तक पहुँचने का संकल्प करते हैं। इष्टदेव के साथ तन्मय अविच्छिन्न-एकाकार हो जाने की साधना 'लययोग' कहलाती है। भक्ति-मार्ग में इसी दिशा में बढ़ा जाता है। द्वैत को मिटाकर अद्वैत बन जाने की आकांक्षा को आत्मसमर्पण, ईश्वर-प्राप्ति कहा जाता है। दीपक-पतंगे का उदारण इसी प्रयोजन को समझाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

आत्म-समर्पण स्तर की साधना में अपने अस्तित्व को भगवान् की सत्ता में समर्पित होने का ध्यान करना होगा। परमेश्वर के विराट् रूप का चिंतन-विवेचन इसमें सहायक होगा। विराट् ब्रह्म को इस चराचर जगत् का शरीर मानते हुए कल्पनाएँ की जाएँ। इस विराट् ब्रह्म का एक क्षुद्रतम घटक है—अपना 'अहम्'। इसका स्वतंत्र क्या अस्तित्व ? हमारी सत्ता ब्रह्मसत्ता की ही एक इकाई है। अतः विराट्-ब्रह्म विश्वमानव के लिए हमें अपने अस्तित्व का समर्पण करते हुए ही जीवनयापन करना चाहिए। विराट्-ब्रह्म की ध्यान-धारणा का यही निष्कर्ष है। आत्मा को शरीर से भिन्न सत्-चित्-आनंदस्वरूप मानना और शरीर तथा आत्मा की भिन्नता की गहराई से अनुभूति करना तथा मात्र शारीरिक सुविधाओं में जुटे रहने की व्यर्थता का स्मरण कर आत्मकल्याण का सोत्साह संकल्प भी ध्यान-प्रक्रिया का एक प्रयोजन है।

प्राणि जगत् तथा पदार्थ मात्र में एक ही चेतन-तत्त्व परिव्याप्त है। समस्त विश्व चेतन सत्ता का स्वरूप है। व्यापक चेतना के साथ

एकाग्रता होने पर ऐसी अनुभूति का सातत्य ही भगवत्-प्राप्ति का स्वरूप है।

इस समस्त विश्व को ईश्वर का विराट् रूप मानकर, उसमें अपने आप को समर्पित कर देना साधु और ब्राह्मण जीवन की परंपरा है। विश्व-पीड़ा को अपनी पीड़ा मानना और अपनी सुख-संपदा को लोकहित में होम देना लोकसेवियों की परमार्थ-साधना रही है। संकीर्ण स्वार्थपरता को छोड़कर अपने को विश्व-परिवार का सदस्य मानना—**'वसुधैव कुटुंबकम्'** की भावना से ओत-प्रोत रहकर लोकहित के क्रिया-कलापों में निरत रहना भी आत्म-समर्पण का ही एक अति महत्त्वपूर्ण योग साधन है।

त्राटक साधना से दिव्य चक्षुओं का जागरण

ब्रह्मवर्चस् साधनाओं का क्रम इस तरह रखा गया है, जिसमें शरीर और मन पर पड़ने वाले दबाव बदलते रहें और एक बार एक ही तरह के अभ्यास से उत्पन्न थकावट न आने पाए। जप और ध्यान के बाद त्राटक का क्रम आता है। यों समय और ऋतुओं के अंतर से इनमें आगा-पीछा भी किया जा सकता है। कौन साधना पहले करे और कौन पीछे, ऐसा कोई कठोर प्रतिबंध नहीं है।

तृतीय नेत्र आज्ञाचक्र की दिव्यदृष्टि बढ़ाने वाली साधनाओं में 'त्राटक' प्रमुख है। इसे बिंदुयोग भी कहते हैं। अस्त-व्यस्त, इधर-उधर भटकने वाली बाह्य और अंतःदृष्टि को किसी बिंदु विशेष पर, लक्ष्य विशेष पर एकाग्र करने को बिंदु साधना कह सकते हैं। त्राटक का उद्देश्य यही है। त्राटक में बाह्य नेत्रों एवं दीपक जैसे साधनों का उपयोग किया जाता है। इसलिए उसकी गणना स्थूल उपचारों में है। बिंदुयोग में ध्यान-धारणा के सहारे किसी इष्ट आकृति पर अथवा प्रकाश ज्योति पर एकाग्रता का अभ्यास किया जाता है। दोनों का उद्देश्य एवं अंतर केवल भौतिक साधनों के

प्रयोग करने की आवश्यकता रहने या न रहने का है। आरंभिक अभ्यास की दृष्टि से त्राटक को आवश्यक एवं प्रमुख माना गया है। बिंदुयोग साधना की स्थिति आ जाने पर बाह्य त्राटक की आवश्यकता नहीं रहती।

त्राटक के स्वरूप का वर्णन करते हुए 'हठयोग प्रदीपिका' में कहा गया है—

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्म लक्ष्यं समाहितः।
अश्रु संपात पर्यंतं आचार्यैस्त्राटक स्मृतम्॥

अर्थात् एकाग्रचित्त होकर निश्चल दृष्टि द्वारा सूक्ष्म लक्ष्य को तब तक देखता रहे, जब तक आँखों में से आँसू न आ जाएँ। इस साधना को त्राटक कहते हैं।

प्राचीन काल के योग साधकों के नेत्र स्थित दृष्टि बहुत प्रबल होती थी इसलिए उन पर अश्रुपात पर्यंत देखते रहने का कोई विशेष बुरा प्रभाव नहीं पड़ता था। इसलिए वैसा करने का निर्देश दिया गया था। आज की स्थिति में नेत्र शक्ति दुर्बल रहने से वैसा न करने की बात कही गई है, तो भी एकाग्र दृष्टि के उद्देश्य की पूर्ति प्राचीन और अर्वाचीन दोनों ही मान्यताओं के अनुसार आवश्यक है।

त्राटक की प्रतिक्रिया नेत्र रोगों को—आलस्य-प्रमाद को निरस्त करने के रूप में मानी गई है—

मोचनं नेत्ररोगाणां तंद्रादीनां कपाटकम्।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम्॥

—हठयोग प्रदीपिका ३२

नेत्र रोगों को दूर करने एवं आलस्य, तंद्रा आदि विकारों को हटाने वाला त्राटक है। उसे गुप्त रखना चाहिए।

गुप्त रखने से तात्पर्य इतना ही है कि उपयुक्त मार्गदर्शन के बिना यदि ऐसे ही लोग कहे-सुने आधारों पर योग क्रियाएँ करने लगेंगे, तो पात्रता के अनुरूप साधना की परंपरा न रह सकेगी और उससे समुचित लाभ प्राप्त न हो सकेगा।

योग-साधना में एकाग्रता का अत्यधिक महत्त्व है। मनःशक्तियों का बिखराव ही उस मनोबल के उत्पन्न होने में सबसे बड़ी बाधा है, जिस पर साधनाओं की सफलता निर्भर है। सभी जानते हैं कि बिखरी भाप, बारूद, धूप आदि से सामान्य प्रयोजन ही सधते हैं, पर जब उनमें केंद्रीकरण होता है, तो चमत्कार देखे जा सकते हैं। लक्ष्यवेध जैसी एकाग्रता उत्पन्न की जा सके, तो भौतिक एवं आत्मिक सभी प्रयोजनों में सफलता मिलती है, त्राटक से इसी उपलब्धि का अभ्यास होता है।

यथा धन्वी स्वकं लक्ष्यं वेधयत्य चलेक्षणः।
तथैव त्राटकाभ्यासं कुर्यादेकाग्रमानसः॥

—योग रसायनम्

जैसे धनुर्धर मात्र अपने लक्ष्य को ही लक्ष्यवेध के क्षण में देखता है, वैसे ही त्राटक का अभ्यास एकाग्र मन में करना चाहिए।

योगग्रंथों में बिंदुयोग की चर्चा अनेक स्थलों पर हुई और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। महायोग विज्ञान का मत है—

बिंदु ब्रह्मसकृद्दृष्ट्वा मनस्तस्मिन्नियोजयेत्,
स्वयमेव तु संपश्येद्देहे बिंदु च निष्कलम्।
भ्रू दहरादुपरि सच्चिदानंद तेजः कूट रूपम्।
परब्रह्म अवलोकयन्तद्भूणो भवति गर्भजन्मजरा,
मरण संसारभयात्संतारयेति तस्मात्तारकमिति।

भ्रूमध्य भाग के ऊपर सच्चिदानंदमय तेजराशि विद्यमान है, उसे परब्रह्म कहते हैं। इस ब्रह्मबिंदु को देखने और उसमें मन लगाने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके अतिरिक्त और कहीं मन न जाने दें। यह बिंदुब्रह्म जन्म-मरण से छुड़ाता है, संसार-सागर से पार करता है, इसलिए उसे तारक ब्रह्म भी कहते हैं। यह बिंदु ध्यान तारक योग भी कहलाता है।

सं ज्योतिषा अभूमेति सं देवैभूमेत्येवैतदाह।

(श. १/९/३/१४)

हम उस परम ज्योति में अपनी ज्योति मिलाकर ही देवताओं की पंक्ति में बैठ सकने योग्य बनें।

ध्यानात्मा साधकेंद्रो भवति परपुरे शीघ्रगामी मुनींद्रः सर्वज्ञः सर्वदर्शी सकलहितकर सर्वशास्त्रार्थवेत्ता।

अद्वैताचास्पादी विलसति परमापूर्वसिद्धिप्रसिद्धो दीर्घायुः सोऽपि कर्त्ताः त्रिभुवनभवनै संहतौ पालने च ॥३५॥

—षटचक्र निरूपणम् ३५

आज्ञाचक्र को सिद्ध कर लेने वाला दूरगामी बन सकता है, सूक्ष्म रूप धारण कर सकता है। परकाया प्रवेश कर सकता है। सबका हितकारी, शास्त्रों का ज्ञाता, ब्रह्मवेत्ता, प्रसन्नचित्त, सिद्धि, विद्याओं का ज्ञाता, दीर्घायु, लोकव्यवस्था में सहायता देने वाला बनता है।

यदाऽऽत्मतत्त्वेनतु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।

— श्वेताश्वतरोपनिषद् २।१५

योग साधक आत्मा के द्वारा ही दीपक के समान प्रकाशयुक्त ब्रह्मतत्त्व के दर्शन करता है।

नीहारधूमार्कानलानिलानां,
खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि,
ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥११

—श्वेताश्वतरोपनिषद् २।११

योग साधक को कोहरा, धुआँ, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, बिजली, स्फटिक, मणि, चंद्रमा जैसे कई प्रकाश दृश्य दिखाई पड़ते हैं। यह योग की सफलता के चिह्न हैं।

समाधि के साथ दिव्यदृष्टि का—अतींद्रिय चेतना का जाग्रत् होना सर्वविदित है। त्राटक का प्रतिफल समयानुसार समाधि के रूप में सामने आता है। कहा गया है—

त्राटकाभ्यासतश्चापि कालेन क्रमयोगतः
राजयोगसमाधिः स्यात् तत्प्रकारोऽधुनोच्यते ॥

—*योग रसायनम्*

त्राटक के अभ्यास से भी समयानुसार राजयोग की समाधि का लाभ संभव है।

मानवी विद्युत् का अत्यधिक प्रवाह नेत्रों द्वारा ही होता है। अस्तु जिस प्रकार कल्पनात्मक विचार शक्ति को सीमाबद्ध करने के लिए ध्यानयोग की साधना की जाती है, उसी प्रकार मानवी विद्युत् प्रवाह को दिशा विशेष में प्रयुक्त करने के लिए नेत्रों की ईक्षण शक्ति को सधाया जाता है। इस प्रक्रिया को त्राटक नाम दिया गया है।

सरसरी तौर से और चंचलतापूर्वक उथली दृष्टि से हम प्रति क्षण असंख्य वस्तुएँ देखते रहते हैं। इतने पर भी उनमें से किन्हीं विशेष आकर्षक वस्तुओं की ही मन पर छाप पड़ती है, अन्यथा सब कुछ यों ही आँख के आगे से गुजर जाता है। देखने की क्रिया होते रहने पर भी दृश्य पदार्थों एवं घटनाओं का नगण्य-सा प्रभाव मस्तिष्क पर पड़े, इसका कारण देखते समय मन की चंचलता, उथलापन, उपेक्षा, अन्यमनस्कता आदि कारण ही मुख्य होते हैं। यदि गंभीरतापूर्वक किसी पदार्थ या घटना का निरीक्षण किया जाए, तो उसी में से बहुत महत्त्वपूर्ण तथ्य उभरते हुए दिखाई देंगे।

त्राटक-साधना का उद्देश्य अपनी दृष्टि क्षमता में इतनी तीक्ष्णता उत्पन्न करना है कि वह दृश्य की गहराई में उतर सके और उसके अंतराल में अति महत्त्वपूर्ण घटित हो रहा है, उसे पकड़ने और ग्रहण करने में समर्थ हो सके। वैज्ञानिकों, कलाकारों, तत्त्वदर्शियों में यही विशेषता होती है कि सामान्य समझी जाने वाली घटनाओं को अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से देखते हैं और उसी में से ऐसे तथ्य ढूँढ़ निकालते हैं, जो अद्भुत एवं असाधारण सिद्ध होते हैं।

पेड़ पर से फल टूटकर नीचे ही गिरते रहते हैं। यह दृश्य बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक सभी देखते हैं। इसमें कोई नई बात नहीं। किंतु आइजक न्यूटन ने पेड़ पर से सेब का फल जमीन पर

गिरते देखा, तो उसकी सूक्ष्म दृष्टि इसका कारण तलाश करने में लग गई और अंततः उसने पृथ्वी में आकर्षण शक्ति होने का क्रांतिकारी सिद्धांत प्रतिपादित करके विज्ञान जगत् में एक अनूठी हलचल उत्पन्न कर दी। इस आधार पर आगे चलकर विज्ञान की भावी प्रगति का पथ-प्रशस्त होता चला गया है। कलाकारों और तत्त्वदर्शियों की दृष्टि भी ऐसी ही होती है। महर्षि चरक ने जमीन पर उगती रहने वाली सामान्य जड़ी-बूटियों के ऐसे गुण-धर्म खोज निकाले जिनके सहारे आरोग्य विज्ञान की प्रगति में भारी सहायता मिली। मनीषियों ने एक से एक बढ़कर विज्ञान क्षेत्र में रहस्योद्घाटन किए हैं। इस सूक्ष्म अवलोकन में दिव्यदृष्टि तो काम करती है, पर उसके उत्पादन, अभिवर्द्धन में चर्म चक्षुओं में उत्पन्न होने वाली वेधक दृष्टि की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होती। त्राटक इसी विभूति-विशेषता के उत्पादन को ध्यान में रखते हुए किया जाता है।

बुद्धि का महत्त्व सर्वविदित है। पर मानवी विद्युत् जिसे प्रतिभा का स्रोत माना जाता है, व्यक्तित्व के निर्माण एवं प्रयत्नों की सफलता में किसी भी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। मनुष्य शरीर एक अच्छा-खासा बिजलीघर है। उससे लोहे की मशीनें नहीं चलाई जातीं, पर शरीर यंत्र में जो एक-से-एक अद्भुत कलपुरजे लगे हैं, उनके सुसंचालन में यही शक्ति कितना काम करती है, इसे देखते हुए भौतिक विद्युत् की क्षमता को तुच्छ ही कहा जा सकता है। मानवी विद्युत् का वस्तुओं और प्राणियों पर कितना भारी प्रभाव पड़ता है—उससे वातावरण का निर्माण किस तरह उभरता है और व्यक्तित्व के विकास में कितनी सहायता मिलती है, इस सबको यदि क्रमबद्ध किया जा सके तो प्रतीत होगा कि मनुष्य शरीर में काम करने वाली बिजली कितनी सूक्ष्म और कितनी महत्त्वपूर्ण है।

यों तो मनुष्य शरीर के रोम-रोम में विद्युत् प्रवाह काम करता है, पर नेत्र, जननेंद्रियाँ, वाणी यह तीन द्वार मुख्य हैं, जिनमें होकर वह प्रवाह बाहर निकलता है और परिस्थितियों को प्रभावित करता है। मस्तिष्क का ब्रह्मरंध्र भाग उत्तरी ध्रुव की तरह निखिल ब्रह्मांड में संव्याप्त महाप्राण को खींचकर अपने में धारण करता है। इसके

उपरांत उसके प्रयोग के आधार नेत्र, जिह्वा एवं जननेंद्रिय छिद्रों में होकर बनते हैं।

जिह्वा की वाक् साधना के लिए जप, पाठ, मौन जैसे कितने ही अभ्यास हैं। जननेंद्रिय में संबंधित काम-शक्ति को ब्रह्मचर्य से संयमित किया जाता है और कुंडलिनी जागरण के रूप में उभारा जाता है। इनका उल्लेख यहाँ अभीष्ट नहीं। त्राटक द्वारा नेत्र गोलकों से प्रवाहित होने वाली विद्युत् शक्ति को किस प्रकार केंद्रीभूत एवं तीक्ष्ण बनाया जाता है, यहाँ तो इसी प्रसंग पर चर्चा की जाती है। मनुष्य का अंतरंग नेत्र गोलकों में होकर बाहर झाँकता है। उन्हें अंतरात्मा की खिड़की कहा गया है। प्रेम, द्वेष एवं उपेक्षा जैसी अंत:स्थिति को आँख मिलाते ही देखा-समझा जाता है। काम-कौतुक का सूत्र संचार नेत्रों द्वारा ही होता है। नेत्रों के सौंदर्य एवं प्रभाव की चर्चा करते-करते कवि-कलाकार थकते नहीं, एक से एक बड़े उपमा, अलंकार उनके लिए प्रस्तुत करते रहते हैं। दया, क्षमा, करुणा, ममता, पवित्रता, सज्जनता, सहृदयता जैसी आत्मिक सद्भावनाओं को अथवा इनके ठीक विपरीत दुष्ट दुर्भावनाओं को किसी के नेत्र में डालकर जितनी सरलतापूर्वक समझा जा सकता है, उतना और किसी प्रकार नहीं।

कहा जा चुका है कि दिव्य चक्षुओं से संभव हो सकने वाली सूक्ष्म दृष्टि और चर्म चक्षुओं की एकाग्रतायुक्त तीक्ष्णता के समन्वय की साधना को त्राटक कहते हैं। इसका योगाभ्यास में अति महत्त्वपूर्ण स्थान है।

छोटे बच्चों को नजर लग जाने, बीमार पड़ने—नए सुंदर मकान को नजर लगने से दरार पड़ जाने जैसी किंवदंतियाँ अक्सर सुनी जाती हैं। इनमें प्राय: अंधविश्वासों का ही पुट रहता है, फिर भी मानवी विद्युत् विज्ञान की दृष्टि से ऐसा हो सकना असंभव नहीं है। वेधक दृष्टि में हानिकारक और लाभदायक दोनों तत्त्व रहते हैं।

यह तो सामान्य स्तर के त्राटक उपचार का क्रिया-कौतुक हुआ। अध्यात्म-क्षेत्र में आगे बढ़ने वाले इसी प्रयोग की उच्च भूमिका में

प्रवेश करके दिव्य दृष्टि विकसित करते हैं और उस अदृश्य को देख पाते हैं, जिसे देख सकना चर्म चक्षुओं के लिए संभव नहीं हो सकता।

दृष्टि के स्थूल भाग की भी विशेषता है, पर वस्तुतः उसकी वास्तविक शक्ति सूक्ष्म दृष्टि पर निर्भर रहती है। प्रेम, द्वेष, घृणा, उपेक्षा आदि के भाव आँखों की बनावट या पुतली संचालन क्रम में अंतर नहीं करते। वह स्थिति तो सदा एक-सी ही रहती है। अंतर पड़ता है उस भाव संदोह का, जो आँखों में सूक्ष्म प्रक्रिया बनकर झाँकता है और सामने वाले को अपने अंतरंग के सारे भेद बताकर स्थिति से अवगत कर देता है। स्थूल दृष्टि के पीछे दृष्टि ही अपना काम कर रही होती है। अस्तु, भारतीय योगदर्शन ने त्राटक के माध्यम से सूक्ष्म दृष्टि को एकाग्र एवं प्रभावशाली बनने का उद्देश्य सामने रखा है, जबकि पाश्चात्य शैली में चर्म चक्षु ही सब कुछ हैं और उन्हीं की दृष्टि से वेधक क्षमता उत्पन्न करके अभीष्ट प्रयोजन संपन्न किए जाते हैं।

त्राटक का वास्तविक उद्देश्य दिव्य दृष्टि को ज्योतिर्मय बनाता है। इसके आधार पर सूक्ष्म जगत् की झाँकी की जा सकती है। अंतःक्षेत्र में दबी हुई रत्न राशि को खोजा और पाया जा सकता है। देश-काल, पात्र की स्थूल सीमाओं को लाँघकर अविज्ञात और अदृश्य का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। आँखों के इशारे से तो मोटी जानकारी भर दी जा सकती है, पर दिव्य दृष्टि से तो किसी के अंतःक्षेत्र की गहराई में प्रवेश करके वहाँ ऐसा परिवर्तन किया जा सकता है, जिससे जीवन का स्तर एवं स्वरूप ही बदल जाए। इस प्रकार त्राटक की साधना यदि सही रीति से सही उद्देश्य के लिए की जा सके, तो उससे साधक को अंतःचेतना के विकसित होने का असाधारण लाभ मिलता है, साथ ही जिस प्राणी या पदार्थ पर इस दिव्य दृष्टि का प्रभाव डाला जाए, उसे भी विकासोन्मुख करके लाभान्वित किया जा सकता है।

भ्रूमध्य भाग में आज्ञाचक्र अवस्थित है। इसी को दिव्य नेत्र या तृतीय नेत्र कहते हैं। शंकर एवं दुर्गा के चित्रों में इसी स्थान पर तीसरा नेत्र दिखाया जाता है। पुराण कथा के अनुसार इसी नेत्र को

खोलकर भगवान् शिव ने अग्नि तेजस् उत्पन्न किया था और उससे विघ्नकारी मनोविकार कामदेव को जलाकर भस्म किया था। यह नेत्र हर मनुष्य में मौजूद है। शरीरशास्त्र के अनुसार इसे पिट्यूटरी ग्रंथि कहते हैं। इसमें नेत्र जैसी सूक्ष्म संरचना मौजूद है। सूक्ष्म शरीर के विश्लेषण में यह केंद्र विशुद्ध रूप में दिव्य नेत्र है और उससे प्रकट-अप्रकट, दृश्य-अदृश्य, भूत-भविष्य सभी कुछ देखा-जाना जा सकता है। एक्सरेज द्वारा शरीर के भीतर की टूट-फूट अथवा किसी बंद बक्से के भीतर रखे आभूषणों का चित्र खींचा जा सकता है। इस दिव्य नेत्र की भी एक्सरेज यंत्र से तुलना की जा सकती है—यदि वह प्रदीप्त हो उठे, तो घर बैठे महाभारत के दृश्य, टेलीविजन की भाँति देखने वाली संजय जैसी दिव्य दृष्टि प्राप्त की जा सकती है और वह सब देखा जा सकता है, जिसका अस्तित्व तो है, पर चमड़े से बने नेत्र उसे देख सकने में समर्थ नहीं हैं।

इस नेत्र में अदृश्य देखने की ही नहीं, ऐसी प्रचंड अग्नि उत्पन्न करने की भी शक्ति है, जिसके आधार पर अवांछनीयताओं को, अवरोधों को जलाकर भस्म किया जा सके। शंकर जी ने इसी नेत्र को खोला था, तो प्रचंड शिखाएँ उद्भूत हो उठी थीं। विघ्नकारी कामदेव उसी में जल-बल कर भस्म हो गया था। बिंदुयोग की साधना से, यदि इस तृतीय नेत्र को ठीक तरह ज्योतिर्मय किया जा सके, तो उसमें उत्पन्न होने वाली अग्निशिखा मनोविकारों को—अवरोधों को जलाकर भस्म कर सकती है। उसकी शक्ति व्याख्या योग्य है। यदि दार्शनिक व्याख्या करनी हो, तो उसे विवेकशीलता एवं दूरदर्शिता का जागरण भी कह सकते हैं। जिसके आधार पर लोभ, मोह, वासना, तृष्णा, अहंता जैसे मनोविकारों के कारण उत्पन्न हुए अगणित शोक-संतापों और विग्रह- उपद्रवों को सहज ही शमन या सहन किया जा सकता है।

पौराणिक गाथा के अनुसार पुरातन काल में जब यह दुनिया जीर्ण-शीर्ण हो गई थी—उसकी उपयोगिता नष्ट हो गई थी—तब भगवान् शिव ने अपना तीसरा नेत्र खोलकर प्रलय दावानल उत्पन्न किया था और ध्वंस के तांडव नृत्य में तन्मय होकर भविष्य में

अभिनव विश्व के नव-निर्माण की भूमिका संपादित की थी। उस प्रलयंकारी तांडव नृत्य का बाह्य स्वरूप कितना ही रोमांचकारी क्यों न रहा हो, उसकी चिनगारी शिवनेत्र से ही प्रस्फुटित हुई थी। विद्युतीय जीवन-क्रम में तथा समाजगत समष्टि जीवन में भी ऐसी आवश्यकता पड़ सकती है कि प्रचलित ढर्रे में आमूलचूल परिवर्तन आवश्यक न हो जाए—जो चल रहा है उसे उलटना अनिवार्य बन जाए। यह महापरिवर्तन भी तृतीय नेत्र से—दूरदर्शी विवेकसम्मत विचार क्रांति से ही संभव हो सकता है। शिवजी के द्वारा तांडव नृत्य के समय तृतीय नेत्र खोले जाने के पीछे महाक्रांति की सारभूत रूपरेखा का दिग्दर्शन है।

त्राटक विधियाँ अनेक प्रकार की हैं। मैस्मेरिज्म के अभ्यासी सफेद कागज पर काला गोला बनाते हैं। उसके मध्य में श्वेत बिंदु रहने देते हैं। इस पर नेत्र दृष्टि और मानसिक एकाग्रता को केंद्रित किया जाता है। अष्टधातु के बने तश्तरीनुमा बर्तन के मध्य में ताँबे की कील लगाकर उस मध्य बिंदु को एकाग्र भाव से देखते रहने का भी वैसा ही लाभ बताया जाता है। कहते हैं कि धातु के माध्यम से वेधक-दृष्टि की शक्ति और भी अधिक बढ़ती है।

भारतीय योगशास्त्र के अनुसार इसके लिए चमकते प्रकाश का उपयोग करना उपयुक्त माना गया है। सूर्य, चंद्र, तारक आदि प्राकृत प्रकाश पिंडों को तथा दीपक जैसे मानवकृत प्रकाश साधनों को काम में लाने का विधान है।

सूर्य की ज्योति अत्यंत तीव्र होती है। खुली आँखों से उसे देखने में हानि होती है, इसलिए सूर्य त्राटक मात्र ध्यान द्वारा ही किया जा सकता है, खुले नेत्रों से नहीं। लगभग यही बात चंद्रमा के संबंध में भी है। उसका प्रकाश यों सूर्य के समान तीखा तो नहीं होता, फिर भी नेत्र विज्ञान के अनुसार किसी भी प्रकाश को लगातार देखते रहना हानिकारक है। प्राचीन मान्यताओं और आधुनिक शोधों में यह मौलिक अंतर सामने आया है। खुले नेत्रों से लगातार अश्रुपर्यंत देखते रहने की बात शरीरशास्त्री स्वीकार नहीं करते और हानिकारक बताते हैं। तारागणों को प्रकाश का माध्यम बनाकर त्राटक साधना करने में

भी कई कठिनाइयाँ हैं। तारे मात्र रात्रि को निकलते हैं। बदली, कुहरा, धुंध, धुआँ छा जाने पर वे रात्रि में भी नहीं दीखते। जिन्हें खुला आसमान उपलब्ध है, वे ही तारों को देखने का लाभ ले सकते हैं। उन्हें लेटकर या तिरछा होकर ही देखा जा सकता है, जबकि साधनाओं में मेरुदंड सीधा रखने का विधान है। साधक को सुविधा का समय दिन में हो, तो तारे कहाँ मिलेंगे ? फिर तारे कितने ही होते हैं। त्राटक के लिए एक ही प्रकाश बिंदु चाहिए, कई बिंदु होने पर दृष्टि भटकती है। इन सब कारणों को देखते हुए सिद्धांतत: भले ही सूर्य, चंद्र, तारकों की बात कही जा सके, किंतु व्यवहारत: वे तीनों ही अनुपयुक्त हैं। यदि इन्हीं का उपयोग करना हो, तो एक सेकंड तक उन्हें देखने के उपरांत तत्काल नेत्र का बंद अभ्यास कर लेने और फिर ध्यान-धारणा से ही प्रकाश पर एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिए।

त्राटक के अभ्यास में दीपक का प्रयोग ही अधिक उपयुक्त है। पर घृत दीप का उपयोग कई दृष्टि से अधिक उपयुक्त माना गया है। पर यह होना शुद्ध ही चाहिए, मिलावटी या नकली घी की अपेक्षा शुद्ध तेल अधिक उत्तम है। मोमबत्ती का उपयोग भी किया जा सकता है। कम पॉवर के रंगीन बल्ब भी इसी प्रयोजन की पूर्ति कर सकते हैं।

इनमें से जो भी उपकरण काम में लाना हो, उसे छाती की सीध—चार से दस फुट तक की दूरी पर रखना चाहिए। पीछे काला, नीला या हरा परदा टँगा हो अथवा इन रंगों से दीवार रँगी हो। प्रकाश ज्योति के इर्द-गिर्द न्यूनतम वस्तुएँ हों, अन्यथा ध्यान उनकी ओर बिखरेगा।

त्राटक के लिए प्रात:काल का समय सर्वोत्तम है। यों उसे रात्रि को भी किया जा सकता है। दिन में सूर्य का प्रकाश फैला रहने से यह साधना ठीक तरह नहीं बन पड़ती है। यदि दिन में ही करनी हो तो अँधेरे कमरे का प्रबंध करना होता है।

साधना के लिए कमर सीधी, हाथ गोदी में, पालथी सही रखकर बैठना चाहिए। वातावरण में घुटन, दुर्गंध, मक्खी, मच्छर जैसे चित्त

में विक्षोभ उत्पन्न करने वाली बाधाएँ नहीं हों। यह अभ्यास दस मिनट में आरंभ करके उसे एक मिनट बढ़ाते हुए एक-दो महीने में अधिक-से-अधिक आधे घंटे तक पहुँचाया जा सकता है। इससे अधिक नहीं किया जाना चाहिए।

खुले नेत्र से प्रकाश ज्योति को दो से पाँच सेकंड तक देखना चाहिए और आँखें बंद कर लेनी चाहिए। जिस स्थान पर दीपक जल रहा है, उसी स्थान पर उस ज्योति को ध्यान नेत्रों से देखने का प्रयत्न करना चाहिए। एक मिनट बाद फिर नेत्र खोल जाएँ और पूर्ववत् कुछ सेकंड खुले नेत्रों से ज्योति का दर्शन करके फिर आँखें बंद कर ली जाएँ। इस प्रकार प्राय: एक-एक मिनट के अंतर से नेत्र खोलने और कुछ सेकंड देखकर फिर आँखें बंद करने और ध्यान द्वारा उसी स्थान पर ज्योति दर्शन की पुनरावृत्ति करते रहनी चाहिए।

मिनटों और सेकंडों का सही निर्धारण उस स्थिति में नहीं हो सकता। घड़ी का उपयोग कर सकने की वह स्थिति होती ही नहीं। अनुमान पर ही निर्भर रहना पड़ता है। अलग समय में अनुमान के सही होने का अभ्यास घड़ी के सहारे किया जा सकता है। मोटा आधार यह है कि जब नेत्र बंद कर लेने पर प्रकाश ज्योति का दर्शन झीना पड़ने लगे, तो स्मृति को पुन: सतेज करने के लिए आँख खोलने और ज्योति देखने का प्रयत्न किया जाए। आमतौर से नेत्र खोलकर देखने के उपरांत जब पलक बंद किए जाते हैं, तो ध्यान में प्रकाश अधिक स्पष्ट होता है। धीरे-धीरे वह झीना, धुँधला होता है। उसे फिर से सतेज करने के लिए ही खुली आँख से ज्योति देखने की आवश्यकता पड़ती है। हर मनुष्य की मस्तिष्कीय संरचना अलग-अलग प्रकार की होती है। किसी को एक बार का प्रत्यक्ष दर्शन बहुत देर तक ध्यान में प्रकाश की झाँकी कराता रहता है। किसी की स्मृति जल्दी धुँधली हो जाती है। स्थिति का निरीक्षण स्वयं करना चाहिए और आवश्यकतानुसार जल्दी-जल्दी या देर-देर में आँखें खोलने, बंद करने का क्रम निर्धारण करना चाहिए। उद्देश्य यह है कि त्राटक के साधना काल में ध्यान-भूमिका में लगातार प्रकाश

ज्योति की झाँकी होती रहे। धुँधलेपन को हटाने के उद्देश्य से ही नेत्रों को खोलने, बंद करने की प्रक्रिया अपनाई जाए।

त्राटक का उद्देश्य दीपक पूजा नहीं, वरन् ध्यान-भूमिका में प्रखरता उत्पन्न करना है, ताकि चिंतन के आधार पर प्रकाश बिंदु, देव प्रतिमा की स्पष्ट झाँकी कर सकना संभव हो सके। मंद एवं भोंथरी चिंतन प्रक्रिया में कोई ध्यान-प्रतिमा स्पष्ट रूप से नहीं उभरती। कल्पना-चित्र स्पष्ट नहीं होते। तब एकाग्रता का एक महत्त्वपूर्ण मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। ऐसी दशा में नादयोग आदि से किया जाने वाला शब्दयोग एवं ध्यान-धारणा के आधार पर किया गया बिंदुयोग में से एक भी सफल नहीं होता। तब मात्र प्रत्यक्ष प्रतिमाओं को देखकर—कीर्तन, गायन तथा श्रवण, सत्संग आदि स्थूल उपायों में मन की भगदड़ रोकने के मोटे प्रयोग किए जाते हैं। जप, पाठ की जिह्वा प्रक्रिया तो पूरी होती रहती है, पर ध्यान के अभाव में उसमें भी रस उत्पन्न नहीं होता। त्राटक द्वारा चिंतन तंत्र को, कल्पना संस्थान को प्रखर बनाने में जितनी सफलता मिलती है, उतना ही आत्मिक प्रगति के लिए की जाने वाली साधनाएँ सरल एवं सफल होने लगती हैं। अस्तु, त्राटक को—ध्यानयोग को प्रथम प्रक्रिया माना गया है।

'योग रसायन' में त्राटक के विधान एवं प्रगति क्रम पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

दृश्यते प्रथमाभ्यासे तेजो बिंदु समीपकम्।
चक्षुषो रश्मिजातानि प्रसरन्ति समंततः॥

त्राटक के अभ्यास से प्रथम तेजोमय बिंदु पास आया दीखेगा। फिर नेत्र से रश्मियाँ निकलती दीखेंगी।

तेजसा संवृतं लक्ष्यं क्षणं लुप्तं भवेत्ततः।
क्षणं दृष्टिगतं भूत्वा पुनर्लुप्त भवेत्क्षणात्॥

फिर भी तेजपूर्ण बिंदु कभी लुप्त दीखेगा, कभी प्रकट हुआ दीखेगा। ऐसा ही क्रम बार-बार चलेगा।

दृष्ट्या समं मनश्चापि लक्ष्यस्थाने प्रवेशयेत्।
लक्ष्यं विहाय नैवान्यच्चिंतयेन्नावलोकयेत्॥

मन भी उसी ओर लगा रहे। लक्ष्य के अतिरिक्त और कुछ न देखे और न सोचे।

प्रकाश ज्योति को आधार मानकर मन की एकाग्रता का अभ्यास किया जाता है। अस्तु, प्रत्यक्ष या सूक्ष्म प्रकाश की झाँकी करने के साथ ही इस बात का भी प्रयत्न रहना चाहिए कि मन की तन्मयता भी इसी लक्ष्य पर बनी रहे। चंद्र-चकोर, दीप-पतंगा के उदाहरण की तरह त्राटक-साधना की ज्योति के प्रति तन्मयता का भाव रखते हुए उसमें एकाकार हो जाने की भाव-भूमिका बनानी चाहिए।

ध्यान के दो रूप हैं—एक साकार, दूसरा निराकार। दोनों को ही प्रकारांतर से दिव्य नेत्रों से किया जाने वाला त्राटक कहा जा सकता है। देव प्रतिमाओं की कल्पना करके उनके साथ तदाकार होने—भाव भरे मनुहार करने को साकार ध्यान कहते हैं। निराकार उपासना में मनुष्याकृति की देव छवियों को इष्टदेव मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उस प्रयोजन के लिए प्रकाश ज्योति की स्थापना की जाती है। रूप की दृष्टि से छवि—श्रवण की दृष्टि से नाद और श्वसन प्रक्रिया की दृष्टि से प्राणायाम का उपाय काम में लाया जाता है। निराकार साधना के ये तीनों ही उपाय एकाग्रता और भाव-कल्पना को प्रखर परिपक्व बनाने के उद्देश्य से किये जाते हैं। साकार उपासना का भी उद्देश्य यही है।

निराकार में इष्टदेव को और भी अधिक सीमित—केंद्रित करना पड़ता है। ज्योति के साथ अन्य घटक नहीं होते। उसकी एक ही सत्ता होती है। उसमें मन की एकाग्रता को लगा सकना परिपक्व मनःस्थिति में ही संभव होता है। ज्योति के साथ आत्मभाव जोड़कर रस उत्पन्न करना यहाँ भी आवश्यक है। प्रकाश को ब्रह्म का प्रतीक माना गया है। ज्योति दर्शन को ब्रह्म दर्शन समझा जा सके, उसके साथ एकाकार होकर स्वयं भी प्रकाश पुंज, प्रकाश पिंड बन जाने की भाव भरी श्रद्धा उभारी जा सके, तो यह बिंदुयोग की अगली भूमिका समुचित सत्परिणाम दे पाती है। इस अभ्यास में दीप, पतंग एवं चंद्र-चकोर की सरस कल्पना उभरने से ध्यानयोग का उद्देश्य पूरा

होता है। चित्त वृत्तियों के निरोध को ही योग कहते हैं। त्राटक साधना से उसी उद्देश्य की पूर्ति होती है।

अजपा गायत्री अर्थात् सोऽहं साधना

गायत्री उपासना का एक स्वरूप वह है, जिसमें जिह्वा तालू के माध्यम से मंत्र का उच्चारण भी करते हैं। उँगलियों से माला के मनके भी घुमाते हैं। साथ-ही-साथ साकार या निराकार जो भी अनुकूल पड़ता हो, गायत्री की प्रतिमा-चित्र या सूर्य तेज का ध्यान भी करते हैं। ये तीनों क्रियाएँ अलग-अलग एक साथ चलती हैं। इसे साधना की प्रारंभिक कक्षा कहते हैं। इससे आगे उपकरणों की संख्या घटती जाती है और उसका स्थान सूक्ष्म विधान ग्रहण करने लगते हैं।

इसका दूसरा स्वरूप है—'अजपा' अजपा अर्थात् वह जप जो बिना प्रयत्न के अनायास ही होता रहता है। योगियों का मत है कि जीवात्मा अचेतन अवस्था में अनायास ही इस जप प्रक्रिया में निरत रहता है। यह अजपा गायत्री है—'सोऽहं' की ध्वनि जो श्वास-प्रश्वास के साथ-साथ स्वयमेव होती रहती है। इसी को प्रयत्नपूर्वक विधि-विधान सहित किया जाए, तो वह प्रयास 'हंसयोग' कहलाता है। हंसयोग के अभ्यास का असाधारण महत्त्व है। उसे कुंडलिनी जागरण साधना का तो एक अंग ही माना गया है।

विभर्ति कुंडली शक्तिरात्मानं हंसयाश्रिता।

—तंत्र सार

कुंडलिनी शक्ति आत्मक्षेत्र में हंसारूढ़ होकर विचरती है।

गायत्री का वाहन हंस कहा गया है। यह पक्षी विशेष न होकर हंसयोग ही समझा जाना चाहिए। यों हंस पक्षी में भी स्वच्छ धवलता—नीर-क्षीर विवेक, मुक्तक आहार विशेषताओं की ओर इंगित करते हुए निर्मल जीवन सत्-असत् निर्धारण एवं नीतियुक्त उपलब्धियों को ही अंगीकार किया जाना जैसी उत्कृष्टताओं का प्रतीक माना गया है, किंतु तात्त्विक दृष्टि से अजपा गायत्री से गायत्री

का हंसवाहिनी होना और उसकी प्राप्ति के लिए हंसयोग की सोऽहम् की साधना का निर्देश माना जाना ही उचित है।

देहो देवालयः प्रोक्तो जीवो नाम सदा शिवः।
त्यजेदज्ञानं निर्माल्यं सोहं भावेन पूजयेत्॥

—प्रपंच तंत्र

देह देवालय है। इसमें जीव रूप में शिव विराजमान हैं। इसकी पूजा वस्तुओं से नहीं, सोऽहम् साधना से करनी चाहिए।

अंतःकरण में हंस वृत्ति की स्थापना की यह साधना अजपा गायत्री भी कही जाती है।

अजपा गायत्री का महत्त्व बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

अजपा नाम गायत्री ब्रह्मविष्णुमहेश्वरी।
अजपा जपते यस्तां पुनर्जन्म न विद्यते॥२१४.२६॥

—अग्नि पुराण

अजपा गायत्री ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र की शक्तियों से परिपूर्ण है। इसका जप करने वाले का पुनर्जन्म नहीं होता है।

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी।
अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते॥४४॥

—गोरक्ष संहिता

इसका नाम 'अजपा' गायत्री है, जो कि योगियों के लिए मोक्ष को देने वाली है। इसके संकल्प मात्र से सब पापों से छुटकारा मिल जाता है।

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति॥

—गोरक्षसंहिता

इसके समान न कोई विद्या है और न इसके समान कोई ज्ञान ही भूत-भविष्य काल में हो सकता है।

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा।

—शिव स्वरोदय

अजपा गायत्री योगियों के लिए मोक्ष देने वाली है।

सोऽहम् साधना की प्राणयोग प्रक्रिया है। इन दोनों में कमर को सीधा रखकर, पालथी मारकर सुखासन में बैठना पड़ता है। ध्यान-साधनाओं से शरीर को ढीला और मन को खाली करना पड़ता है, इसलिए उनमें आरामकुर्सी, दीवार, पेड़ का सहारा लेकर बैठने अथवा चित्त लेटने की आवश्यकता पड़ती है। गायत्री उपासना और सोऽहम् साधना जपात्मक प्रक्रिया हैं। सोऽहम् साधना को अजपा गायत्री भी कहते हैं। प्राण निरंतर उसका बीज रूप में जप करता रहता है। अस्तु, उसके लिए भी मेरुदंड को सीधा रखकर ही एवं पालथी मारकर ही बैठना पड़ता है।

श्वास लेते समय 'सो' ध्वनि का और छोड़ते समय 'हम्' ध्यान के प्रवाह को सूक्ष्म श्रवण शक्ति के सहारे अंतःभूमिका में अनुभव करना— यही है संक्षेप में 'सोऽहम्' साधना।

वायु जब छोटे छिद्र में होकर वेगपूर्वक निकलती है, तो घर्षण के कारण ध्वनि-प्रवाह उत्पन्न होता है। बाँसुरी से स्वर लहरी निकलने का यही आधार है। जंगलों में जहाँ बाँस बहुत उगे होते हैं, वहाँ अक्सर बाँसुरी जैसी ध्वनियाँ सुनने को मिलती हैं। कारण कि बांसों में कहीं-कहीं कीड़े छेद कर देते हैं और उन छेदों से जब हवा वेगपूर्वक टकराती है, तो उसमें उत्पन्न स्वर प्रवाह सुनने को मिलता है। वृक्षों से टकराकर जब द्रुत गति से हवा चलती है, तब भी सनसनाहट सुनाई पड़ती है। यह वायु के घर्षण की ही प्रतिक्रिया है।

नासिका छिद्र भी बाँसुरी के छिद्रों की तरह हैं। उनकी सीमित परिधि में होकर जब वायु भीतर प्रवेश करेगी, तो वहाँ स्वभावतः ध्वनि उत्पन्न होगी। साधारण श्वास-प्रश्वास के समय भी वह उत्पन्न होती है, पर इतनी धीमी रहती है कि कानों के छिद्र उन्हें सरलतापूर्वक नहीं सुन सकते। प्राणयोग की साधना में गहरे श्वासोच्छ्वास लेने पड़ते हैं। प्राणायाम का मूल स्वरूप ही यह है कि श्वास जितनी अधिक गहरी, जितनी मंदगति से ली जा सके, लेनी चाहिए और फिर कुछ समय भीतर रोककर धीरे-धीरे उस वायु को पूरी तरह खाली कर देना चाहिए। गहरी और पूरी श्वास लेने से स्वभावतः नासिका

छिद्रों से टकराकर उत्पन्न होने वाला ध्वनि प्रवाह और भी अधिक तीव्र हो जाता है। इतने पर भी वह ऐसा नहीं बन पाता कि खुले कानों से उसे सुना जा सके। कर्णेंद्रियों की सूक्ष्म चेतना में ही उसे अनुभव किया जा सकता है।

चित्त को श्वसन क्रिया पर एकाग्र करना चाहिए और भावना को इस स्तर की बनाना चाहिए कि उससे श्वास लेते समय 'सो' शब्द के ध्वनि प्रवाह की मंद अनुभूति होने लगे। उसी प्रकार जब श्वास छोड़ना पड़े, तो यह मान्यता परिपक्व करनी चाहिए कि 'हम' ध्वनि प्रवाह विनिसृत हो रहा है। आरंभ में कुछ समय यह अनुभूति उतनी स्पष्ट नहीं होती, किंतु क्रम और प्रयास जारी रखने पर कुछ ही समय उपरांत इस प्रकार का ध्वनि-प्रवाह अनुभव में आने लगता है और उसे सुनने में न केवल चित्त ही एकाग्र होता है, वरन् आनंद का अनुभव होता है।

'सो' का तात्पर्य परमात्मा और 'हम्' का जीव चेतना—समझा जाना चाहिए। निखिल विश्व-ब्रह्मांड में संव्यात महाप्राण नासिका द्वारा हमारे शरीर में प्रवेश करता है और अंग-प्रत्यंग में जीव कोश तथा नाड़ी तंतु में प्रवेश करके उसको अपने संपर्क-संसर्ग का लाभ प्रदान कराता है। यह अनुभूति 'सो' शब्द ध्वनि के साथ अनुभूति भूमिका में उतरनी चाहिए और 'हम्' शब्द के साथ जीव भाव द्वारा इस काय-कलेवर पर से अपना कब्जा छोड़कर चले जाने की मान्यता प्रगाढ़ की जानी चाहिए।

प्रकारांतर से परमात्म सत्ता का अपने शरीर और मनःक्षेत्र पर आधिपत्य स्थापित हो जाने की ही यह धारणा है। जीव भाव अर्थात् स्वार्थवादी संकीर्णता, काम, क्रोध, लोभ मोह भरी मद-मत्सरता—अपने को शरीर या मन के रूप में अनुभव करते रहने वाली आत्मा की दिग्भ्रांत स्थिति का नाम ही जीव भूमिका है। इस भ्रम-जंजाल भरे जीव भाव को हटा दिया जाए, तो फिर अपना विशुद्ध अस्तित्व ईश्वर के अविनाशी अंश आत्मा के रूप में ही शेष रह जाता है। काय-कलेवर के कण-कण पर परमात्मा के शासन की स्थापना और जीव-धारणा की बेदखली यही है—सोऽहम् साधना का

तत्त्वज्ञान। श्वास-प्रश्वास क्रिया के माध्यम से—सो और हम् ध्वनि के सहारे इसी भाव चेतना को जाग्रत् किया जाता है कि अपना स्वरूप ही बदल रहा है। अब शरीर और मन पर से लोभ-मोह का, वासना-तृष्णा का, अधिपत्य समाप्त हो रहा है और उसके स्थान पर उत्कृष्ट चिंतन एवं आदर्श कर्तृत्व के रूप में ब्रह्मसत्ता की स्थापना हो रही है। शासन परिवर्तन जैसी, राज्यक्रांति जैसी यह भाव-भूमिका है, जिसमें अनाधिकारी, अनाचारी, शासन सत्ता का तख्ता उलटकर उस स्थान पर सत्य, न्याय और प्रेम संविधान वाली धर्मसत्ता का राज्याभिषेक किया जाता है। सोऽहम् साधना इसी अनुभूति स्तर को क्रमशः प्रगाढ़ करती चली जाती है और अंतःकरण यह अनुभव करने लगता है कि अब उस पर असुरता का नियंत्रण नहीं रहा, उसका समग्र संचालन देवसत्ता द्वारा किया जा रहा है।

सोऽहम् साधना के लिए श्वास ध्वनि ग्रहण करते समय 'सो' और निकालते समय 'हम' की धारणा में लगने चाहिए। प्रयत्न करना चाहिए कि इन शब्दों के आरंभ में अति मंद स्तर की होने वाली अनुभूति में क्रमशः प्रखरता आती चली जाए। इसके साथ चिंतन का स्तर यह होना चाहिए कि श्वास में घुले हुए भगवान् अपनी समस्त विभूतियों और विशेषताओं के साथ काय-कलेवर में भीतर प्रवेश कर रहे हैं। यह प्रवेश मात्र आवागमन नहीं है, वरन् प्रत्येक अवयव पर सघन आधिपत्य बन रहा है। एक-एक करके शरीर के भीतरी प्रमुख अंगों के चित्र की कल्पना चाहिए और अनुभव करना चाहिए कि उसमें भगवान् की सत्ता चिरस्थायी रूप से समाविष्ट हो गई। हृदय, फुप्फुस, आमाशय, आँतें, गुरदे, जिगर, तिल्ली आदि में भगवान् का प्रवेश हो गया। रक्त के साथ प्रत्येक नस-नाड़ी और कोशिकाओं पर भगवान् ने अपना शासन स्थापित कर लिया।

बाह्य अंगों ने, पाँचों ज्ञानेंद्रियों ने भगवान् के अनुशासन में रहना और उनका निर्देश-पालन करना स्वीकार कर लिया। जीभ वही बोलेगी जो ईश्वरीय प्रयोजनों की पूर्ति में सहायक हो। देखना, सुनना, बोलना, चखना आदि इंद्रियजन्य गतिविधियाँ दिव्य निर्देशों का ही अनुगमन करेंगी। जननेंद्रिय का उपयोग वासना के लिए नहीं,

मात्र ईश्वरीय प्रयोजनों के लिए अनिवार्य आवश्यकता का धर्म संकट सामने आ खड़ा होने पर ही किया जाएगा। हाथ-पाँव मानवोचित कर्तव्यपालन के अतिरिक्त ऐसा कुछ न करेंगे, जो ईश्वरीय सत्ता को कलंकित करता हो। मस्तिष्क ऐसा कुछ न सोचेगा जिसे उच्च आदर्शों के प्रतिकूल ठहराया जा सके। बुद्धि कोई अनुचित, न्याय-विरुद्ध एवं अदूरदर्शी अविवेक भरा निर्णय न करेगी। चित्त में अवांछनीय एवं निष्कृष्ट स्तरीय आकांक्षाएँ न जमने पाएँगी। अहंता का स्तर नर-कीटक जैसा नहीं नर-नारायण जैसा होगा।

यही हैं वे भावनाएँ जो शरीर और मन पर भगवान् के शासन के स्थापित होने के तथ्य को यथार्थ सिद्ध कर सकती हैं। यह सब उथली कल्पनाओं की तरह मनोविनोद भर नहीं रह जाना चाहिए वरन् उसकी आस्था इतनी प्रगाढ़ होनी चाहिए कि इस भाव-परिवर्तन को क्रियारूप में परिणत हुए बिना चैन ही न पड़े। सार्थकता उन्हीं विचारों की है जो क्रियारूप में परिणत होने की प्रखरता से भरे हों, अन्यथा स्वप्नदर्शी शेखचिल्ली ऐसे ही बैठे-ठाले मन-मोदक खाते रहते हैं। उनसे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। सोहम् साधना के पूर्वार्द्ध में अपने काय-कलेवर पर श्वसन क्रिया के साथ प्रविष्ट हुए महाप्राण की—परब्रह्म की सत्ता-स्थापना का इतना गहन चिंतन करना पड़ता है कि यह कल्पना स्तर की बात न रहकर एक व्यावहारिक यथार्थता के—प्रत्यक्ष तथ्य के रूप में प्रस्तुत दृष्टिगोचर होने लगे।

इस साधना का उत्तरार्द्ध पाप निष्कासन का है। शरीर में से अवांछनीय इंद्रिय-लिप्साओं का आलस्य, प्रमाद जैसी दुष्कृतियों का—मन से लोभ, मोह जैसी तृष्णाओं का—अंतस्तल से जीव भावी अहंता का निवारण-निराकरण हो रहा है। ऐसी भावनाएँ अत्यंत प्रगाढ़ होनी चाहिए। दुर्भावनाएँ और दुष्कृतियाँ निकृष्टताएँ और दुष्टताएँ, क्षुद्रताएँ और हीनताएँ सभी निरस्त हो रही हैं—सभी पलायन कर रही हैं, यह तथ्य हर घड़ी सामने खड़ा दीखना चाहिए। अनुपयुक्तताओं के निरस्त होने के उपरांत ही हलकापन—जो संतोष, उल्लास स्वभावतः होता है और निरंतर बना रहता है, उसी का प्रत्यक्ष अनुभव होना ही चाहिए। साँस निकली कि साथ-साथ अहम् भाव

का भी निष्कासन हुआ। अहंता ही लोभ, मोह की जननी है। शरीराध्यास में जीव उसी की प्रबलता के कारण डूबता है। माया, अज्ञान, अंधकार, बंधन आदि की भ्रांतियाँ एवं विपत्तियाँ इस अहंता के कारण ही उत्पन्न होती हैं। इसे विसर्जित कर देने पर ही भगवान् का अंतःक्षेत्र में प्रवेश करना-निवास करना संभव होता है।

भावोत्कर्ष की दृष्टि से सोऽहम् साधना के साथ-साथ उपर्युक्त भाव-चित्रों को मनःक्षेत्र पर अति सघन चित्रित किया जाना चाहिए, इससे वह चिंतन कुछ ही समय में जीवन का एक प्रवाह बन जाता है और साधक का आंतरिक कायाकल्प होने से बाह्य जीवन अनासक्त कर्मयोगी जैसा उत्कृष्ट दृष्टिगोचर होने लगता है। ऐसा व्यक्ति सांसारिक दृष्टि से कृषक, पशुपालक, श्रमिक, व्यवसायी जैसे सामान्य आजीविका में निरत होने के कारण छोटा भले ही समझा जाए।ऊपर आंतरिक उत्कृष्टता के कारण वह होता अत्यंत महान् ही है। अध्यात्म मूल्यांकनों की कसौटी पर कसने से उसे महामानव एवं ऋषिकाय ही ठहराया जा सकता है। राजा जनक यों सांसारिक दृष्टि से क्रिया व्यस्त व्यक्ति थे, पर अपने उदात्त दृष्टिकोण के कारण वे सदा ब्रह्मवेत्ता ही माने गए। किसी को साधारण स्तर का जीविकोपार्जन करना पड़े, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। यदि सोहम् साधना स्तर की मान्यताएँ गहराई तक अंतःकरण में जड़ जमा लें और वे कार्य रूप में परिणत होने के लिए आतुर हो उठें, तो समझना चाहिए इस एक साधना ने जीवन-लक्ष्य प्राप्त कराने का प्रयोजन पूरा कर लिया।

इस छोटे से मानवी अंतःकरण में दो के निवास की गुंजाइश नहीं है। पूरी तरह एक ही रह सकता है। दोनों रहे तो लड़ते-झगड़ते रहते हैं और अंतर्द्वंद्व की खींचतान चलती रहती है। भगवान् को बहिष्कृत करके पूरी तरह 'अहंमन्यता' को प्रबल बना लिया जाए तो मनुष्य दुष्ट-दुर्बुद्धि, क्रूर-कर्मा, असुर बनता है। अपनी कामनाएँ—भौतिक महत्त्वाकांक्षाएँ, एषणाएँ समाप्त करके ईश्वरीय निर्देशों पर चलने का संकल्प ही आत्म-समर्पण है। यही शरणागति है। यही ब्राह्मी स्थिति है। इसे प्राप्त होते ही मनुष्य में देवत्व का उदय होता

है। तब ईश्वरीय अनुभूतियाँ चिंतन में उत्कृष्टता और व्यवहार में आदर्शवादिता भर देती हैं। ऐसे ही व्यक्ति महामानव, ऋषि, देवता एवं अवतार के नाम से पुकारे जाते हैं। 'सो' में भगवान् का शासन आत्मसत्ता पर स्थापित करने और 'हम्' में अहंता का विसर्जन करने का भाव है। प्रकारांतर से इसे महान् परिवर्तन का, आंतरिक कायाकल्प का बीजारोपण कह सकते हैं। सोऽहम् साधना का यही है—भावनात्मक एवं व्यावहारिक स्वरूप।

ईश्वर जीव को ऊँचा उठाना चाहता है। जीव ईश्वर को नीचे गिराना चाहता है। अस्तु, दोनों के बीच रस्साकशी चलती और खींचतान होती रहती है। न ईश्वर श्रेष्ठ जीवन-क्रम देखे बिना संतुष्ट होता है और न अपनी न्याय-निष्ठा, कर्म-व्यवस्था, तथाकथित पूजा-पाठ के कारण छोड़ने को तैयार होता है। वह अपनी जगह अडिग रहता है और भक्त को तरह-तरह के उलाहने देने, शिकायतें करने, लांछन लगाने की स्थिति बनी ही रहती है। भक्त ईश्वर को अपने इशारे पर नचाना भर चाहता है। उससे उचित-अनुचित मनोकामनाएँ पूरी कराने की, पात्रता-कुपात्रता परखने की आदत छोड़ देने का आग्रह करता रहता है। दोनों अपनी जगह पर अडिग रहें—दोनों की दिशाएँ एक-दूसरे की इच्छा से प्रतिकूल बनी रहें, तो फिर एकता कैसे हो, सामीप्य-सान्निध्य कैसे साधे? ईश्वर-प्राप्ति की आशा कैसे पूर्ण हो ?

इस कठिनाई का समाधान 'सोहम्' साधना के साथ जुड़े हुए तत्त्वज्ञान में सन्निहित है। दोनों एक-दूसरे से गुँथ जाएँ—परस्पर विलीनीकरण हो जाएँ। भक्त अपने आप को अंतःकरण, आकांक्षा एवं अस्तित्व को पूरी तरह समर्पित कर दे और उसी के दिव्य संकेतों पर अपनी दिशा धाराओं का निर्धारण करे। इस स्थिति की प्रतिक्रिया द्वैत की समाप्ति और अद्वैत की प्राप्ति के रूप में होती है। जीव ने ब्रह्म को समर्पण किया है, ब्रह्म की सत्ता स्वभावतः जीवधारी में अवतरित हुई दृष्टिगोचर होने लगेगी। समर्पण एक पक्ष से आरंभ होता है, पर उसकी परिणति उभयपक्षीय एकता में होती है। यही प्रेम योग का रहस्य है। यही भक्त के भगवान् बनने का तत्त्वज्ञान है।

ईंधन जब अग्नि को समर्पण करता है, तो वह भी ईंधन न रहकर आग बन जाता है। बूँद जब समुद्र में विलीन होती है, तो उसकी तुच्छता असीम विशालता में परिणत हो जाती है। नमक और पानी—दूध और चीनी जब मिलते हैं, तो दोनों की पृथकता समाप्त होकर सघन एकता बनकर उभरती है। यही है वेदांत अनुमोदित जीवन-लक्ष्य की पूर्ति—परम पद की प्राप्ति। इसी स्थिति को 'अद्वैत' कहते हैं। शिवोहम्—सच्चिदानंदोहम्—तत्त्वमसि—अयमात्मा ब्रह्म— की अनुभूति इसी सर्वोत्कृष्ट अंतःस्थिति पर पहुँचे हुए साधक की होती है। इसी को ईश्वर-प्राप्ति, आत्म-साक्षात्कार एवं ब्रह्म-निर्वाण आदि नामों से पूर्णता के रूप में कहा गया है।

सोऽहम् साधना का चमत्कारी प्रयोजन भी कम नहीं है। यह प्राणयोग की महती साधना है। दस प्रधान और चौवन गौण; इस प्रकार चौंसठ प्राणायामों का साधना विज्ञान के अंतर्गत विधि-विधान वर्णित है और उनके अनेकानेक लाभ-परिणाम बताए गए हैं। इन सबमें सर्वप्रथम और सर्वोपरि 'सोऽहम्' साधना में सन्निहित प्राणयोग ही है। जिस प्रकार मंत्रों में गायत्री सर्वोपरि है, उसकी प्राणयोग के विविध साधना विधानों में सर्वोच्च मान्यता सोऽहम् के अजपा गायत्री जाप की है। सभी प्राणायामों का लाभ इस एक से ही उठाया जा सकता है।

षटचक्र वेधन के लिए प्राण तत्त्व के बरमे ही छेद करने का काम करते हैं। आज्ञाचक्र तक नासिका द्वारा प्राण तत्त्व खींचने का कार्य एक ही ढंग से चलता है। पीछे उसके दो भाग हो जाते हैं, एक भावपरक दूसरा शक्तिपरक। भावपरक में फेफड़ों में पहुँचा हुआ प्राण समस्त शरीर के अंग-प्रत्यंगों में समाविष्ट होकर सत् का संस्थापन और असत् का निवारण संपन्न करता है। आज्ञाचक्र में एक दूसरी प्राणधारा पिछले मस्तिष्क को स्पर्श करती हुई मेरुदंड में निकल जाती है। वही ब्रह्म नाड़ी का महाशक्ति नद है। इड़ा और पिंगला की दो विद्युत्धाराएँ इसी में प्रवाहित होती हैं। वे मूलाधार चक्र तक पहुँचती हैं और सुषुम्ना सम्मिलन के बाद वापिस लौट आती है। षटचक्र इसी मेरुदंड में स्थित ब्रह्मनाड़ी महानद के अंतर्गत पड़ने वाले भँवर हैं।

इनमें ही लोक-लोकांतरों से—अति मानवी शक्ति संस्थानों से मिलाने वाली रहस्यमय कुंजियाँ सुरक्षित रखी हुई हैं। षटचक्रों में से जो जितने रत्न भंडारों से स्थापित कर ले, वह उतना ही महान् बन सकता है। कुंडलिनी शक्ति को भौतिक और आत्मिक शक्तियों का आदान-प्रदान संपन्न करने वाली महत् तत्त्व भूमिका कह सकते हैं। उसका जागरण षटचक्र वेधन के उपरांत ही होता है। चक्रवेधन के लिए प्राण तत्त्व पर आधिपत्य स्थापित करने वाले वेधक प्राणायामों का अभ्यास करना पड़ता है। जो प्राणायाम षटचक्र वेधन में सहायता करते हैं, उनसे सोहम् का प्राणयोग सर्वप्रथम और सर्वसुलभ है। पंचकोशों के अनावरण का क्रम भी चक्रवेधन स्तर का ही है। उसके लिए भी प्राण-प्रखरता बढ़ानी पड़ती है। यह प्रयोजन भी सोऽहम् साधना से ही पूरा होता है।

कहा जा चुका है कि सोऽहम् की भावना-साधना वाला पक्ष आज्ञाचक्र से मुड़कर फेफड़ों की तरह श्वास-प्रश्वास का रूप धारण करता है और वहीं से दूसरी धारा मेरुदंड की ओर मुड़कर शक्ति जागरण का काम करती है। सोऽहम् साधन के हिमालय से निकलने वाली गंगा, यमुना भावोत्कर्ष एवं शक्ति संवर्द्धन के दोनों प्रयोजन पूरे करती है—इससे भौतिक और आत्मिक प्रगति के दोनों ही प्रयोजन पूरे होते हैं। शक्तिसंपन्न और भावोत्कर्ष की उभयपक्षीय उपलब्धियाँ ही समग्र अध्यात्म है। उसे प्राप्त करने में सोऽहम् साधना जितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करती है, इसे अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है।

नासिका की वायु तत्त्व की तन्मात्रा गंध है। गंध के माध्यम से देवतत्त्वों की अनुभूति-साधना नासिका द्वारा ही होती है। सोऽहम् साधना द्वारा गंध तन्मात्रा का विकास होता है और समय-समय पर अनायास ही दिव्य गंधों की अनुभूति होती है। इन गंधों में मन को प्रसन्न करना या कौतूहल दीखने जैसा साधारण लाभ नहीं, वरन् विभूतियाँ भी भरी पड़ी हैं, जिनसे दिव्य शक्तियों और दिव्य सिद्धियों से लाभान्वित हुआ जा सकता है। सोऽहम् साधना के लिए अगरबत्ती, धूपबत्ती जलाकर, गुलदस्ता सजाकर, चंदन, कपूर आदि

लेप कर, इत्र लगाकर, गुलाब जल छिड़ककर उस स्थान पर सुगंध उत्पन्न की जाती है। साधना के समय अनुभव किया जाता है कि प्रस्तुत गंध नासिका में—मस्तिष्क में बस रही है। उसकी अनुभूति सहज ही हो रही है। ऐसा क्रम साधना के समय चलता रहे, तो आगे चलकर साधना-स्थल से बाहर निकलने पर भी गंध का कोई उपकरण न होने पर भी दिव्य गंध आती रहेगी। यह नासिका की सूक्ष्म तन्मात्रा के जागरण का—एकाग्रता की अभिवृद्धि का चिह्न है, इससे सफलता में प्रसन्नता का बढ़ना स्वाभाविक है।

मनुष्यों में नेत्र का महत्त्व बढ़ गया है। इसके बाद जिह्वा तथा कर्णेंद्रियों की बात है। दूसरी दृष्टि से देखा जाए, तो नेत्र के बाद जननेंद्रिय को आवेशोत्पादक कहा जा सकता है। किंतु अन्य जीवधारियों में सबसे प्रबल और प्रधान नासिका ही होती है। वे गंध के आधार पर ही अपने जीवन-शकट को गतिशील बनाए रहने में समर्थ होते हैं। आहार की खोज, यौन आमंत्रण, शत्रु से रक्षा, मौसम की जानकारी, रास्ता ढूँढ़ना, अपने-बिराने की पहचान जैसे आवश्यक कार्य, पशु-पक्षी कीड़े-मकोड़े प्राय: नासिका के आधार पर ही पूरे करते हैं। गंध ही उनका मार्गदर्शन करती है और भटकावों से—संकटों से बचाती है। प्रशिक्षित कुत्ते अपनी घ्राण शक्ति के आधार पर ही अपराधियों को खोज निकालने का कार्य करते हैं। इसी शक्ति को विकसित कर लिया जाए, तो अविज्ञात हलचलों और अतींद्रिय संकेतों को समझा जा सकता है। दिव्य लोकों में—दिव्य शक्तियों से—दिव्य आत्माओं से—संबंध मिलाने का एक अति महत्त्वपूर्ण माध्यम गंधानुभूति भी है, जिसे सोऽहम् साधना के आधार पर जाना जा सकता है।

स्वरयोग अपने आप में एक स्वतंत्र शास्त्र है। इड़ा और पिंगला नाड़ी के माध्यम से चलने वाले चंद्र-सूर्य स्वर-शरीर और मन की स्थिति में ऋण और धन विद्युत् आवेश के घटाते-बढ़ाते रहते हैं। इस स्थिति का सही ज्ञान रहने पर मनुष्य यह जान सकता है कि उसकी अंत:क्षमता किस कार्य को कर सकने में समर्थ अथवा क्या करने में असमर्थ है। अंतर्जगत् की वस्तुस्थिति का सही ज्ञान होने पर

मनुष्य के लिए ऐसा कदम सरल हो जाता है, जिसके आधार पर सफलता का पथ अधिक प्रशस्त हो सके। किस स्वर की स्थिति में मनुष्य दूसरों की क्या सहायता कर सकता है, इसकी जानकारी भी स्वरयोग से मिलती है। तदनुसार दूसरों की स्वल्प सहायता करके भी उन्हें अधिक मात्रा में लाभान्वित किया जा सकता है। सामान्य बुद्धि से जो अविज्ञात जानकारियाँ प्रायः नहीं ही जानी जा सकती, उन्हें भी स्वरयोग के माध्यम से अधिक खूबी और खूबसूरती से समझा जा सकता है।

स्वरयोग की साधना के यों कई अभ्यास हैं, पर उनमें अधिक सरल और अधिक सफल सोऽहम् साधना ही रहती है। यह विशुद्ध रूप से प्राणयोग है। उसमें प्राणायाम के, षटचक्र वेधन, ग्रंथिवेधन, कुंडलिनी जागरण, स्वर साधन, गंधानुभूति, भावोत्कर्ष जैसी योगाभ्यास की अनेक ऐसी धाराएँ समाविष्ट हैं, जिनके माध्यम से साधक को उच्चस्तरीय आत्मविकास का लाभ मिल सकता है।

ब्रह्मरंध्र की साधना खेचरी मुद्रा

जिह्वा को उलटकर तालु से लगाना और अनुभव करना कि इसके ऊपर सहस्रार अमृत कलश से रिस-रिसकर टपकने वाला सोमरस का जिह्वाग्र भाग से पान किया जा रहा है—यही खेचरी मुद्रा है। तालू में मधुमक्खियों के छत्ते जैसे कोष्ठक होते हैं। सहस्रार को शतदल, सहस्र दल-कमल की उपमा दी गई है। तालू सहस्र धारा है। उसके कोष्ठक शरीरशास्त्र की दृष्टि से उच्चारण एवं भोजन चबाने, निगलने आदि के कार्यों में सहायता करते हैं। योगशास्त्र की दृष्टि से उनसे दिव्य स्राव निसृत होते हैं। ब्रह्मचेतना मानवी संपर्क में आते समय सर्वप्रथम ब्रह्मलोक में—ब्रह्मरंध्र में अवतरित होती है। इसके बाद वहाँ मनुष्य की स्थिति, आवश्यकता एवं आकांक्षा के अनुरूप काया के विभिन्न अवयवों में चली जाती है। शेष अंश अंतरिक्ष में विलीन हो जाता है।

जिह्वा को तालू से स्पर्श कराने के कई उद्देश्य हैं। मुख गह्वर में रहने वाली रसेंद्रिय, रयिशक्तिसंपन्न—ऋण विद्युत् सदृश होती है। उसे मुखर कुंडलिनी कहते है, सर्पिणी की तुलना भी उस पर सही रीति से लागू होती है। अनगढ़, कुसंस्कारी प्रसुप्त स्थिति में वह स्वाद के नाम पर कुछ भी—कितना ही—बिना विवेक के खाती है। पेट को दुर्बल और रक्त को विषाक्त करती है। फलतः दुर्बलता और अस्वस्थता की चक्की में पिसते हुए आधा-अधूरा कष्टपूर्ण जीवन जी सकना संभव होता है। शेष तो अकाल मृत्यु की तरह, आत्महत्या करने जैसा ही नष्ट होते हैं। यह सर्पिणी के काटने सदृश ही दुःखदायी है। इसी प्रकार जिह्वा द्वारा कटु वचन, हेय परामर्श, छल-प्रपंच आदि द्वारा अपने को गर्हित, अधःपतित और दूसरों को कुमार्ग अपनाने के लिए उत्तेजित किया जाता है। यह भी सर्पिणी का ही काम है। द्रौपदी की जीभ ने महाभारत की पृष्ठभूमि बनाई थी, यह सर्वविदित है। यह अनगढ़ प्रसुप्त—स्थिति हुई। यदि यह जिह्वा कुंडलिनी जाग्रत् हो सके—सुसंस्कृत बन सके, तो आहार संयम के लिए जागरूक रहती है। बोलते समय प्रिय और हित का अमृत घोलती है। फलतः संभाषणकर्ता को श्रेय एवं सम्मान की अजस्र उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं। सुसंस्कृत जिह्वा के अनुदानों ने कितनों को न जाने किन-किन वरदानों से लाद दिया है। प्रामाणिक और सुसंस्कृत वक्ता के आधार पर ही तो लोग अनेक क्षेत्रों में नेतृत्व करते और उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचे दिखाई पड़ते हैं। ऐसी ही अन्य विशेषताओं के कारण जिह्वा को मुखर कुंडलिनी कहा गया है और मुख को ऊर्ध्व मूलाधार बताया गया है। निम्न मूलाधार में कामबीज का और ऊर्ध्व मूलाधार मुख में ज्ञान-बीज का निर्झर झरता है। जननेंद्रियों की और मुख की आकृति को समतुल्य बताना कहते-सुनने में तो भोंड़ा लगता है, पर योगशास्त्र की दृष्टि से दोनों की वस्तुस्थिति में बहुत कुछ समानता है। इंद्रियों में जननेंद्रिय और स्वादेंद्रिय यह दो ही प्रधान मानी गई हैं। संयम-साधना में जिह्वा का संयम होने पर कामेंद्रिय का संयम सहज ही सध जाने की बात नितांत तथ्यपूर्ण है। इसमें दोनों के बीच की घनिष्ठता प्रत्यक्ष है। काम-क्रीड़ा

में भी ये दोनों ही गह्वर अपने-अपने ढंग से उत्तेजित रहते और अपना-अपना पक्ष पूरा करते हैं।

जिह्वा में ऋण विद्युत् की प्रधानता है। मस्तिष्क धन विद्युत् का केंद्र है। तालू मस्तिष्क की ही निचली परत है। जिह्वा को भावनापूर्ण तालू से लगाने पर आत्मरति जैसा उद्देश्य पूर्ण होता है। जिह्वा और तालू की हलकी भावना पूर्ण रगड़ से एक विशेष प्रकार के आध्यात्मिक स्पंदन आरंभ होते हैं। उनसे उत्पन्न उत्तेजना से ब्रह्मानंद की अनुभूति का लाभ मिलता है। यह सूक्ष्म होने के कारण कायिक विषयानंद से अत्यंत उच्चकोटि का कहा गया है। इस अनुभूति को योगीजन अमृत निर्झर का रसास्वादन कहते हैं।

खेचरी मुद्रा की साधना ब्रह्मलोक से—ब्रह्मरंध्र से सामीप्य साधती है और उस केंद्र के अनुदानों को उसी प्रकार चूसती है जैसे छोटे बालक का मुख माता का स्तन चूसता है। यह भावना एवं कल्पना सूक्ष्म शरीर में एक विशेष प्रकार की सुखद एवं उत्साहवर्द्धक गुदगुदी उत्पन्न करती है। उसका रसास्वादन देर तक करते रहने को जी करता है। यह तो हुआ भावनात्मक पक्ष जिससे अंतःचेतना के अमृत से संपर्क बनता है और अंतर्मुखी होकर अंतर्जगत् में एक-से-एक बढ़ी-चढ़ी दिव्य संवेदनाओं की अनुभूति का द्वार खुलता है, पर बात इतने तक ही सीमित नहीं है। जिह्वा की 'ऋण' विद्युत् ब्रह्मलोक से—ब्रह्मरंध्र से अन्यान्य अनुदानों की संपदा के 'धन' भंडार को अपने चुंबकत्व से खींचती, घसीटती है और उसकी मात्रा बढ़ाते-बढ़ाते अपने अंतःभंडार को दिव्य विभूतियों से भरती चली जाती है। इन्हीं उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए खेचरी मुद्रा के द्वारा उत्पन्न लाभों का सुविस्तृत वर्णन योगग्रंथों में लिखा और अनुभवियों द्वारा बताया मिलता है।

तालू और जिह्वा के हलके संस्पर्श स्थिर नहीं, वरन् हलकी रगड़ जैसे होते रहते हैं। इसमें घड़ी के पेंडुलम जैसी गति बनती है। गाय को दुहते समय भी इसी से मिलती-जुलती क्रिया-पद्धति कार्यान्वित होती है। रति कर्म की प्रक्रिया भी इसी प्रकार की है।

रगड़ से ऊर्जा का—हलचल का उत्पन्न होना सर्वविदित है। यह ऊर्जा स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों को प्रभावित करती है। उन्हें बल देती, सक्रिय करती और समर्थ बनाती है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनंदमयकोशों के अनावरण में इससे सहायता मिलती है। षटचक्रों को जाग्रत् करने में खेचरी मुद्रा से उत्पन्न ऊर्जा की एक बड़ी भूमिका रहती है। इन्हीं सब कारणों को देखते हुए कुंडलिनी जागरण में खेचरी मुद्रा को महत्त्व दिया गया है। क्रिया साधारण-सी होते हुए भी प्रतिक्रिया की दृष्टि से उसका बहुत ऊँचा स्थान माना गया है। अचेतन के साथ संबंधित अतींद्रिय ज्ञान के विकास-विस्तार में उससे असाधारण सहायता मिलती है।

परमात्मा का आत्मा के साथ निरंतर पेंडुलम गति से ही मिलन-संपर्क चलता रहता है। इस संस्पर्श की अनुभूति (१) आनंद और (२) उल्लास के रूप में होती रहती है। सामान्य स्थिति में तो इसकी प्रतीति नहीं होती, पर खेचरी मुद्रा के माध्यम से उसे अनुभव किया जा सकता है। भगवान् की, मनुष्य की दो प्रेरणाएँ हैं, जो उपलब्ध हैं, उसकी गरिमा को समझते हुए—संसार के सुखद पक्ष का मूल्यांकन करते हुए—संतुष्ट, प्रसन्न और आनंदित रहना, यह है आनंद का स्वरूप। उत्कृष्ट चिंतन और आदर्श कर्तृत्व की दिशा में साहस भरे कदम उठाने के लिए अदम्य उत्साह का—भावभरी उमंगों का उठना यह है—उल्लास। भगवान् इन्हीं दो प्रेरणाओं को निरंतर पेंडुलम गति से प्रदान करते रहते हैं। मानव जीवन जैसी सृष्टि की अनुपम उपलब्धि को पाकर यदि अंतःकरण आनंदित रहे और छोटे-मोटे अभावों की ओर अधिक ध्यान न देकर चारों ओर बिखरी हुई सदाशयता का अनुभव करते हुए संतुष्ट संतुलित रहे, तो समझना चाहिए आनंद की उपलब्धि हो रही है। हर्षातिरेक में उछलने-कूदने या बढ़-चढ़कर शेखीखोरी की बातें करने का नाम आनंद नहीं है। उस स्थिति में दृष्टिकोण परिपक्व हो जाता है और परिष्कृत, इसलिए जिन अभावों और असफलताओं में दूसरे लोग उद्विग्न-उत्तेजित हो उठते हैं, उन्हें वह विनोद-कौतुक भर समझते हुए अपनी मनःस्थिति

को सुसंतुलित बनाए रहता है। जिनकी मनोभूमि ऐसी हो, उसे आनंद की प्राप्ति हो गई, ऐसा कहा जा सकता है।

आनंदित, संतुष्ट या प्रसन्न होने में एक दोष यह है कि अपूर्णता से पूर्णता की ओर चलने के लिए जिस कठोर कर्मठता की जरूरत पड़ती है, उसे प्रायः भुला दिया जाता है। ऐसी भूल करने वाले अध्यात्मवादी प्रायः निकम्मे, अकर्मण्य, आलसी, प्रमादी और बुराइयों, बुरी परिस्थितियों से समझौता कर लेने वाले भाग्यवादी, पलायनवादी बन बैठते हैं। उससे उनकी अपनी समग्र प्रगति का द्वार तो बंद हो ही जाता है, साथ ही समाज के लिए, प्रखर कर्तव्यपालन के लिए जो महान् उत्तरदायित्व मनुष्य के कंधों पर होते हैं, वे भी अवरुद्ध हो जाने से लोकमंगल के लिए मानवी योगदान में भी भारी क्षति पहुँचती है। मनुष्य का अवतरण जिन महान् कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का प्रचंड प्रयत्नशीलता के साथ निर्वाह करने के लिए हुआ, यदि उनमें शिथिलता आ गई, तो समझना चाहिए कि जीवित ही मृतक बन जाने जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई। यदि आनंद या संतोष की प्राप्ति किसी अध्यात्मवादी में इस प्रकार की अकर्मण्यता उत्पन्न कर दे, तो समझना चाहिए कि बिलकुल उलटा हो गया और अर्थ का अनर्थ बन गया।

खेचरी मुद्रा की साधना से उपलब्ध होने वाला दूसरा दिव्य अनुदान उल्लास माना गया है। यह उभरता उल्लास इस प्रकार की अवांछनीय मनःस्थिति बनने की गुंजाइश नहीं छोड़ता। भगवान् निरंतर आनंद के साथ-साथ उल्लास भी प्रदान करते हैं और उच्चस्तरीय प्रयत्नों के लिए, प्रचंड कर्मठता अपनाने के लिए अदम्य स्फूर्ति एवं उमंग उत्पन्न करते हैं। उल्लास जब अपनी प्रौढ़ावस्था में होता है, तो वह इतना प्रखर होता है कि प्रस्तुत कठिनाइयों, अभावों, अवरोधों की चिंता न करते हुए ईश्वरीय संदेश के अनुरूप अपनी रीति-नीति निर्धारण करने के लिए मचल उठता है। किसी के रोके नहीं रुकता। लोभ और मोह के भव-बंधन यों सहज नहीं टूटते और कुसंस्कार तथा स्वार्थ संबंधी चिंतन ऐसी भावनाओं को क्रियान्वित होने में पग-पग पर विरोध उत्पन्न करते हैं, पर जिसे उल्लास प्राप्त है, वह आत्मकल्याण और ईश्वरीय निर्देशों के पालन की दिशा में ही

अग्रसर होता है। कठिनाइयाँ क्यों आती हैं और रोक-थाम कौन-कौन करते हैं, इसकी चिंता नहीं करता। फलस्वरूप जहाँ चाह, वहाँ राह वाली बात बन ही जाती है। जिसे उल्लास की उपलब्धि मिल गई, उसे महापुरुषों जैसे महान् कर्तव्यपालन करते रहने के अनवरत अवसर निर्बाध गति से मिलते ही रहते हैं।

आनंद और उल्लास भरी मनःस्थिति उत्पन्न करने में खेचरी मुद्रा का जो योगदान मिलता है, उसके फलस्वरूप साधक को हर स्थिति में हँसते-हँसते रहने और हलकी-फुलकी जिंदगी जीने का अभ्यास करना पड़ता है। कर्मठता की जागरूकता से सामान्य जीवन-क्रम में पग-पग पर सफलताएँ मिलती और सरलताएँ उत्पन्न होती हैं। इन लाभों को भी सामान्य नहीं समझना चाहिए। ब्रह्मलोक के अन्य दिव्य अनुदान पाकर तो मानवी सत्ता ऋषिकल्प-देवतुल्य बनने के लिए अग्रसर होती है। खेचरी मुद्रा का वह विशिष्ट लाभ भी आनंद-उल्लास की उपलब्धि की तरह है, साधक के लिए हर दृष्टि से श्रेयस्कर सिद्ध होता है।

खेचरी मुद्रा की साधना के लिए हठयोगी जीभ को लंबी करके 'काक चँचु' तक पहुँचाने के लिए जिह्वा पर काली मिर्च, शहद, घृत का लेपन करके उसे थन की तरह दुहते, खींचते हैं और लंबी करने का प्रयत्न करते हैं। जीभ के नीचे वाली पतली त्वचा को काटकर भी अधिक पीछे मुड़ सकने योग्य उसे बनाया जाता है। ये दोनों ही क्रियाएँ सर्वसाधारण के उपयुक्त नहीं हैं। इनमें तनिक भी भूल होने से जिह्वा तंत्र भी नष्ट हो सकता है अथवा दूसरी विपत्तियाँ आ सकती हैं। अस्तु, यदि सर्वजनीन एवं जोखिम रहित उपासनाएँ अभीष्ट हों, तो शारीरिक अवयवों पर अनावश्यक दबाव न डालकर सारी प्रक्रिया को ध्यानपरक—भावना मूलक ही रखना होगा।

खेचरी मुद्रा का भावपक्ष ही वस्तुतः उस प्रक्रिया का प्राण है। मस्तिष्क मध्य को—ब्रह्मरंध्र अवस्थित सहस्रार को—अमृत कलश माना गया है और वहाँ से सोमरस स्रवित होते रहने का उल्लेख है। जिह्वा को जितना सरलतापूर्वक पीछे तालू से सटाकर जितना पीछे ले जा सकना संभव हो, उतना पीछे ले जाना चाहिए। 'काक चँचु' से

बिल्कुल न सट सके, कुछ फासले पर रह जाए तो भी हर्ज नहीं है। तालू और जिह्वा को इस प्रकार सटाने के उपरांत ध्यान किया जाना चाहिए कि तालू छिद्र से सोम अमृत का सूक्ष्म स्राव टपकता है और जिह्वा इंद्रिय के गहन अंतराल में रहने वाली रस तन्मात्रा द्वारा उसका पान किया जा रहा है। इसी संवेदना को अमृत पान पर सोमरस पान की अनुभूति कहते हैं। प्रत्यक्षतः कोई मीठी वस्तु खाने आदि जैसा कोई स्वाद तो नहीं आता, पर कई प्रकार के दिव्य रसास्वादन पर उस अवसर पर हो सकते हैं। ये इंद्रिय अनुभूतियाँ मिलती हों, तो हर्ज नहीं, पर वे आवश्यक या अनिवार्य नहीं हैं। मुख्य तो वह भाव पक्ष है जो इस आस्वादन के बहाने गहन रस संवेदना से सिक्त रहता है। यही आनंद और उल्लास की अनुभूति खेचरी मुद्रा की मूल उपलब्धि है।

उसके भौतिक, सिद्धिपरक लाभ भी हैं। योगशास्त्रों में खेचरी मुद्रा से मिलने वाली सिद्धियों, सामर्थ्यों का विस्तृत उल्लेख मिलता है। योग रसायनम् में बताया गया है।

प्रथमं लवणं पश्चात् क्षारं क्षीरोपमं ततः।
द्राक्षारससमं पश्चात् सुधासारमयं ततः॥

खेचरी मुद्रा के समय उस रस का स्वाद पहले लवण जैसा, फिर क्षार जैसा, फिर दूध जैसा, फिर द्राक्षारस जैसा तदुपरांत अनुपम सुधा, रस-सा अनुभव होता है।

आदौ लवण क्षारं च ततस्तिक्तकषायकम्।
नवनीतं घृतं क्षीरं दधितक्रमधूनि च।
द्राक्षारसं च पीयूषं जायते रसनोदकम्।

खेचरी मुद्रा में जिह्वा को क्रमशः नमक, क्षार, तिक्त, कषाय, नवनीत, घृत दूध, दही, द्राक्षा रस, पीयूष, जल जैसे रसों की अनुभूति होती है।

अमृतास्वादनाद्देहो योगिनो दिव्यतामियात्।
जरारोगविनिर्मुक्तश्चिरं जीवति भूतले॥

—*योग रसायनम्*

भावनात्मक अमृतोपम स्वाद मिलने पर योगी के शरीर में दिव्यता आ जाती है और वह रोग तथा जीर्णता से मुक्त होकर दीर्घकाल तक जीवित रहता है।

योगसूत्र में खेचरी मुद्रा से अणिमादि सिद्धियों का प्राप्ति का उल्लेख है—

तालु मूलोर्ध्वभागे महज्ज्योति विद्यते तद्दर्शनाद् अणिमादि सिद्धिः।

तालू के ऊर्ध्व भाग में महाज्योति स्थित है, उसके दर्शन से अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

ब्रह्मरंध्र साधना की खेचरी मुद्रा प्रतिक्रिया के संबंध में शिव संहिता में इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

ब्रह्मरंध्रे मनोदत्वा क्षणार्धं मयि तिष्ठति।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम्॥
अस्मिल्लीनं मनोयस्य स योगी मयि लीयते।
अणिमादि गुणान् भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः॥
एतद् रन्ध्रज्ञान मात्रेण मर्त्यः
संसारेऽस्मिन् वल्लभो मे भवेत् सः।
पापान् जित्वा मुक्तिमार्गाधिकारी
ज्ञानं दत्वा तारयेदद्भुतं वै॥

अर्थात्—ब्रह्मरंध्र में मन लगाकर खेचरी मुद्रा की साधना करने वाला योगी आत्मनिष्ठ हो जाता है। पापमुक्त होकर परम गति को प्राप्त करता है। इस साधना में मनोलय होने पर साधक ब्रह्मलीन हो जाता है और अणिमा आदि सिद्धियों का अधिकारी बनता है।

घेरंड संहिता में खेचरी मुद्रा का प्रतिफल इस प्रकार बताया गया है—

न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते।
न च रोगो जरा मृत्युर्देव देहः स जायते॥

खेचरी मुद्रा निष्णात देव देह को मूर्च्छा, क्षुधा, तृष्णा, आलस्य, रोग, जरा, मृत्यु का भय नहीं रहता।

लावण्यं च भवेद्गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवम्।
कपालवक्त्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात्॥

—घेरंड संहिता

शरीर सौंदर्यवान् बनता है। समाधि का आनंद मिलता है। रसों की अनुभूति होती है। खेचरी मुद्रा सब प्रकार श्रेयस्कर है।

जरामृत्युगदघ्नो यः खेचरीं वेत्ति भूतले।
ग्रंथतश्चार्थतश्चैव तदभ्यासप्रयोगतः॥
तं मुने सर्वभावेन गुरुं मत्वा समाश्रयेत्।

—योगकुंडल्योपनिषद्

जो महापुरुष ग्रंथ से, अर्थ से और अभ्यास-प्रयोग से इस जरा-मृत्यु व्याधिनिवारक खेचरी विद्या को जानने वाला है, उसी गुरु के पास सर्वभाव से आश्रय ग्रहण कर इस विद्या का अभ्यास करना चाहिए।

खेचरी मुद्रा से अनेकों शारीरिक, मानसिक, सांसारिक एवं आध्यात्मिक लाभों के उपलब्ध होने का शास्त्रों में वर्णन है। इससे सामान्य दीखने वाली इस महान् साधना का महत्त्व समझा जा सकता है। स्मरणीय इतना ही है कि इस मुद्रा के साथ-साथ संवेदनाओं की अनुभूति अधिकतम गहरी एवं श्रद्धासिक्त होनी चाहिए।

परम तेजस्वी शक्ति-संचार साधना

उत्तराधिकार में संपत्ति और प्रतिष्ठा मिलना सौभाग्य का लक्षण माना जाता है। परिश्रम से भी कुछ उत्पादन करना हो, उसमें भी अपने से बड़ों का, सुविधा और साधनसंपन्न कुटुंबियों का सहयोग आवश्यक होता है। इस तरह का संरक्षण मिल जाना सफलता की आधी मंजिल स्वतः संपन्न हुई मानी जाती है।

साधना के क्षेत्र में भी यही सिद्धांत कार्य करता है। उच्च कुल में जन्म पाने की तरह यदि समर्थ संरक्षण मिल जाए, तो सफलता सुनिश्चित हो जाती है। इस क्षेत्र में अपने अकेले के पराक्रम से आगे बढ़ने वाले थोड़े ही हुए हैं, अधिकांश को उनके गुरुओं से ही शक्ति मिली है। साधना विज्ञान में इस क्रिया को "शक्तिपात" के नाम से जाना जाता है। उससे गड़ा हुआ धन अनायास मिल जाने की तरह आकस्मिक सिद्धि का परम सौभाग्य साधक को स्वत: मिल जाता है। श्री रामकृष्ण परमहंस ने स्वामी विवेकानंद को, श्री विरजानंद ने श्री मद्दयानंद को, श्री श्यामाचरण लाहिड़ी, कुवलयानंद आदि को भी उनके समर्थ मार्गदर्शकों ने ही शक्ति देकर सिद्ध बनाया था। यह लाभ किसी भी साधक के सौभाग्य का प्रतीक माना जाता है।

यह लाभ बिना श्रम मिलता तो है, किंतु उसके लिए पात्र का भी उतना ही समर्थ होना आवश्यक है। मशीनगनों की बैटेल इतने मजबूत इस्पात की होती है, जो सैकड़ों फायर करते रहने पर भी फटती नहीं, जबकि कच्चे लोहे को रत्ती भर बारूद ही फाड़ देती है। जल पक्के घड़ों में ठहरता है, कच्चे घड़ों में भर दें तो पानी तो व्यर्थ जायेगा ही, घड़ा भी नष्ट होगा। योग्य शिष्य की कसौटी यह है कि वह प्राप्त शक्ति का सदुपयोग उस सद्गृहस्थ की भावना के अनुरूप करे, जो अपने बेटों से अपनी पारिवारिक प्रतिष्ठा, उसकी सुविधा समुन्नति बढ़ाने के लिए की जाती है। महापुरुष लोक-कल्याण के लिए जीते, लोक मंगल का आचरण करते हैं। यही दृष्टि उसकी शिष्य के प्रति होती है। यदि किसी की शारीरिक, मानसिक और आत्मिक क्षमता के प्रति उसे यह विश्वास हो जाता है कि वह प्राप्त शक्ति केवल लोक-कल्याण में ही लगाएगा, तो उसे शक्तिपात में प्रसन्नता ही होती है। शक्तिपात का अर्थ कठिन साधनाओं द्वारा अर्जित अपनी प्राणशक्ति अपने शिष्य में डाल देना। इससे सिद्धि का वरदान साधक को स्वत: मिल जाता है।

आज की परिस्थितियों में वैसे मेधावी और आत्मपरायण साधकों का अभाव होगा, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, किंतु यह लाभ अधिकतम लोगों को बाँटने से अनेक तेजपुंज-प्रतिभाएँ पैदा की

जा सकती हैं। अतः ब्रह्मवर्चस् साधना में शक्ति-संचार का क्रम भी संयुक्त रखा गया है। निर्धारित समय पर परम गुरुदेव अपनी प्राणशक्ति से साधकों को लाभान्वित करते हैं और अपनी पात्रता के अनुरूप साधक उसे ग्रहण कर अपनी साधना की सफलता को द्रुतगामी बनाते हैं।

ब्रह्मवर्चस् सत्रों के समय यह क्रम और साधनाकाल का निर्णय बदलता रहेगा, अतएव उसकी जानकारी उसी समय दी जाती रहेगी, किंतु इस शक्ति-संचार की साधना को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है।

इसके लिए चित्र आदि की आवश्यकता नहीं। रात्रि को यदि कभी आँखें खुल जाएँ तो बिस्तर पर पड़े-पड़े भी इसे किया जा सकता है। बैठकर करनी हो तो दीवार, मसंद आदि का सहारा लिया जा सकता है। आरामकुरसी भी काम में लाई जा सकती है। शरीर को शिथिल, मन को एकाग्र करके सुविधा के समय इस साधना को करना चाहिए। समय कितना लगाना है—यह अपनी सुविधा एवं परिस्थिति पर निर्भर है। पर जितना भी समय लगाना हो, उसे तीन भागों में विभक्त कर लेना चाहिए। एक-तिहाई में स्थूल शरीर, एक-तिहाई में कारण शरीर में ज्योति का अवतरण करना चाहिए। यों थोड़ी न्यूनाधिकता रहने से भी कोई हर्ज नहीं होता। पर क्रम ऐसा ही बनाना चाहिए, जिससे शरीर, मन और आत्मा तीनों स्तरों को समुचित प्रकाश मिल सके।

ब्रह्मवर्चस् साधना सत्रों में समय निर्धारण के साथ-साथ कुछ अन्य आवश्यक नियमों की अनिवार्यता रहेगी। इस साधना के लिए नियत हिमालय उत्तर दिशा की ओर मुख करके बैठना चाहिए और परम गुरुदेव को हिमालय पर्वत पर बैठे अनुभव करना चाहिए। सामान्य अवस्था में यह ध्यान सविता के तेजपुंज में किया जाता है। किंतु ब्रह्मवर्चस् साधना की विशिष्ट अवस्था हिमाच्छादित प्रदेश में तेजपुंजधारी महापुरुष के मस्तक से निकल रही शक्ति धारा के अवगाहन और धारण का ध्यान करना चाहिए।

सामान्य स्थिति में कहीं भी रहकर किए जाने वाले ध्यान का स्वरूप भिन्न है। सूक्ष्मजगत् में ईश्वरीय दिव्य प्रकाश की प्रेरणापूर्ण

किरणें निरंतर बहती रहती हैं, उन्हें श्रद्धा, एकाग्रता और भावनापूर्ण ध्यान करके इस लेख में वर्णित विधि से कोई भी साधक ग्रहण कर सकता है। पर अपने परिवार के लिए इस साधना में संलग्न साधकों के लिए दो-दो घंटे के दो ऐसे समय भी नियुक्त हैं, जिनमें किन्हीं महान् दिव्य शक्तियों द्वारा अपना शक्ति-प्रवाह जोड़ दिया जाता है और उस समय ध्यान करने में विशेष आनंद आता है और विशेष प्रभाव पड़ता है। यह समय रात्रि को ८ से १० बजे और प्रातः ३ से ५ बजे का है। इन दोनों अवसरों से जब जिसे सुविधा हो, तब वे अपनी सुविधा के अनुरूप समय निर्धारित कर सकते हैं।

आरंभ में यह समय एक बार में आधा घंटा से अधिक नहीं होना चाहिए। धीरे-धीरे समय बढ़ाकर एक घंटे तक का किया जा सकता है। रात्रि के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में दोनों बार भी यह ध्यान किया जा सकता है। तब दो बार में कुल मिलाकर एक घंटे से लेकर दो घंटे तक यह समय हो सकता है। २४ घंटे में २ घंटे इसके लिए अधिकतम समय हो सकता है। अधिक तेज के ग्रहण करने में कठिनाई पड़ती है, इसलिए ग्रहण उतना ही करना चाहिए, जितना पचाया जा सके। कौन किस समय इस साधना को करे, कितनी देर किस प्रकार बैठकर करे, यह निर्धारण करना साधक का अपना काम है। अपनी परिस्थितियों के अनुसार उसे अपनी व्यवस्था स्वयं ही बनानी चाहिए। पर जो क्रम या समय निर्धारित किया जाए, उसे उसी क्रम से चलाना चाहिए। समय और स्थिति का एक ही क्रम चलना किसी भी साधना की सफलता के लिए उचित एवं आवश्यक है।

ज्योति अवतरण साधना इस प्रकार करनी चाहिए—

(१) शरीर को बिलकुल शिथिल कर देना चाहिए और ऐसी भावना करनी चाहिए कि अपना मन, शरीर और आत्मा पूर्ण शांत निश्चिंत एवं प्रसन्न स्थिति में अवस्थित है। यह भावना पाँच मिनट करने से चित्त में ध्यान के उपयुक्त शांति उत्पन्न होने लगती है।

(२) ध्यान कीजिए कि अपने चारों ओर प्रकाशपुंज फैला हुआ है। आगे-पीछे, ऊपर-नीचे सर्वत्र प्रकाश फैल रहा है। भगवती आद्यशक्ति की आभा सूर्यमंडल में से निकलकर सीधी आप तक

चली आ रही है और आप उस प्रकाश के घेरे में चारों ओर से घिरे हुए हैं।

(३) ये प्रकाश किरणें धीरे-धीरे आपके शरीर में, त्वचा छिद्रों में प्रवेश करती हुई प्रत्येक अवयव में घुल रही हैं। हृदय, फेफड़े, आमाशय, आँतें, मस्तिष्क, हाथ-पैर आदि अंग उस प्रकाशपुंज को अपने भीतर धारण करके परिपुष्ट हो रहे हैं। जिह्वा, गुह्येंद्रिय, नेत्र, कान, नाक आदि इंद्रियाँ इस प्रकार से आलोकित होकर पवित्र बन रही हैं, उनकी असंयम वृत्ति जल रही है। पवित्रता की यह ज्योति शरीर के कण-कण को पवित्र बनाने में संलग्न है।

स्थूलशरीर में रक्त-मांस, अस्थि आदि के बने हुए अवयवों के प्रकाश पुंज बनने और उनके परिपुष्ट पवित्र, स्फूर्तिवान् एवं ज्योतिर्मय होने का ध्यान करके उपरांत सूक्ष्म शरीर पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए। सूक्ष्म शरीर का स्थान मस्तिष्क है।

(४) ध्यान करना चाहिए कि मस्तिष्क के भीतर मक्खन जैसे कोमल, बालू के जैसे बिखरे हुए कणों में अगणित प्रकार की मानसिक शक्तियों एवं विचारणाओं के केंद्र छिपे हुए हैं। उन तक आदिशक्ति माता के प्रकाश की धाराएँ पहुँच रही हैं और वे सभी कण उसके द्वारा रत्नकणों की तरह ज्योतिर्मय होकर जगमगाने लगे हैं।

(५) मन में छिपे हुए अंधकार का असंयम, स्वार्थ, मोह, भय और भ्रम-जंजाल का, इस प्रकाश के प्रवेश होने से विनाश हो चला और मानसिक संस्थान का कण-कण विवेक, उच्च विचार संतुलन एवं सुरुचि जैसी विभूतियों से जगमगाने लगा। गायत्री माता की इस ज्योति द्वारा अपनी मनोभूमि को महापुरुषों जैसे स्तर का बनाया जा रहा है और हम उस प्रकाश को बड़ी श्रद्धापूर्वक अधिकाधिक मात्रा में मस्तिष्कीय कणों में ग्रहण एवं धारण करते चले जा रहे हैं।

सूक्ष्म शरीर में गायत्री माता के प्रकाश का प्रवेश अनुभव करने के बाद, हृदय स्थान में स्थित कारण शरीर में ज्योति धारण करना चाहिए। उपनिषद् में ऋषियों ने अपनी योग दृष्टि से जीव का स्वरूप अँगूठे की बराबर ज्योतिर्मय आभा के रूप में हृदय-स्थान में निवास करता हुआ देखा है। इस आत्मा के छोटे-से प्रकाश को भगवती

आदिशक्ति का महान् प्रकाशरूपी अनुदान मिलने से अपूर्णता के स्थान पर पूर्णता का प्रादुर्भाव होता है।

(६) ध्यान करना चाहिए कि आकाश में अनंत प्रकाश की आभा अवतरित होकर अपने हृदय-स्थान में अवस्थित आत्मा के अँगुष्ठ मात्र प्रकाश पुंज में प्रवेश कर रही हैं। उसकी सीमाबद्धता, संकीर्णता और तुच्छता दूर कर अपने सदृश बना रही है। लघु और महान् का मिलन—अणु ज्योति और विभु ज्योति का यह आलिंगन परस्पर महान् आदान-प्रदान के रूप में परिणत हो रहा है। जीवात्मा अपनी लघुता परमात्मा को सौंप रहा है और परमात्मा अपनी महानता जीवात्मा को प्रदान कर रहा है। बिछड़े हुए गोवत्स की तरह दोनों मिल रहे हैं और एकता का दिव्य आनंद उत्पन्न हो रहा है।

(७) जीवात्मा का लघु प्रकाश परमात्मा के परम प्रकाश से लिपट रहा है और दीपक पर जलने वाले पतंगे की तरह, यज्ञकुंड में पड़ने वाली आहुति की तरह अपने अस्तित्व को होम रहा है। चकोर की तरह उस प्रकाश पुंज को चंद्रमा मानकर आह्लादित हो रहा है और अनंत आनंद का अनुभव कर रहा है।

(८) उस मिलन के फलस्वरूप अंतःकरण में सद्भावनाओं की हिलोरें उठ रही हैं, आकांक्षाएँ आदर्शवादिता एवं उत्कृष्टता से परिपूर्ण होती चली हैं, ईश्वरीय संदेशों और आदर्शों पर चलने की निष्ठा परिपक्व हो रही है। विश्व के कण-कण में परम ब्रह्म को ओत-प्रोत देखकर **'वसुधैव कुटुंबकम्'** की भावना प्रबल हो रही है और सेवाधर्म अपनाकर ईश्वर-भक्ति का मधुर रसास्वादन करने की उमंग उठ रही है। आत्मा की महिमा के अनुरूप अपनी विचारणा और कार्य-पद्धति रखने का निश्चय प्रबल हो रहा है।

(९) अनंत प्रकाश के आनंदमय समुद्र में स्नान करती हुई आत्मा अपने आप को धन्य एवं कृत-कृत्य हुआ अनुभव कर रही है।

(११) एकाग्रचित्त और श्रद्धा, तन्मयतापूर्वक की गई शक्ति-संचार साधना के लाभ शेष सभी साधना अभ्यासों से बढ़कर देखे गए हैं। लंबे अर्से तक इस साधना के अनुभवों को सुनते रहने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जो साधनाएँ कई वर्षों में पूरी

हो पातीं, वह बहुत स्वल्प समय में आशातीत सफलता के साथ संपन्न हुई। शक्ति-संचार साधना में कई प्रकार के अनुभव और भावोद्रेक उत्पन्न होते हैं, उनसे परेशान नहीं होना चाहिए। इस साधनाकाल में निम्नांकित अनुभूतियाँ होती हैं—

(अ) कई तरह की गंधों की आकस्मिक अनुभूति होती है, इसमें कुछ परेशानी-सी होती है, किंतु यह सुनिश्चित समझा जाना चाहिए कि यह संचरित प्राण की प्रतिक्रिया और प्रभाव मात्र है, उससे किसी पर भी शारीरिक क्षति नहीं होती।

(ब) कई बार कान में किसी तरह की ध्वनि का-सा आभास होता है।

(स) एकाएक तीव्र मानसिक हलचल और उत्तेजना-सी होती है।

(द) रोमांच और कंपन की-सी अनुभूति होती है, विद्युत् करेंट लगाने जैसा आभास भी हो सकता है।

ये सब साधना की सफलता के लक्षण हैं, उनसे घबराने जैसी कोई बात नहीं होती। इस शक्ति-संचार साधना में शरीर स्थित प्राणों में दिव्य प्राण भरने से खाली घड़े में जल भरते समय उत्पन्न शब्द-ध्वनि और हलचल की ही प्रतिक्रियाएँ उपर्युक्त रूप में प्रकट होती हैं। यह आयातित प्राण साधक के भीतर के कषाय-कल्मषों के परिमार्जन का कार्य प्रारंभ करता है, तब और भी विलक्षण अनुभूतियाँ हो सकती हैं। इन परिवर्तनों को बहुत ध्यानपूर्वक अध्ययन करते और नोट करते रहना चाहिए। आवश्यक हो तो उन पर चर्चा और परामर्श भी किया जा सकता है, किंतु उसे आम चर्चा नहीं बनाना चाहिए, अन्यथा आत्ममुखी दृष्टि बिखरती है और साधक सांसारिक लोकैषणा में फँसकर अपनी प्राप्त क्षमताएँ भी गँवा बैठता है।

ये ब्रह्मवर्चस् साधनाएँ मनुष्य शरीर पाने के बाद दूसरे नंबर की ईश्वरीय अनुग्रह ही मानी जा सकती है। इस सौभाग्य को जो सार्थक कर सकें, उन्हें अपना मनुष्य जीवन सार्थक और धन्य हुआ अनुभव होगा।

कुछ सहयोगी साधनाएँ

ब्रह्मवर्चस् साधना के अंतर्गत लिए गए योगाभ्यासों एवं तपश्चर्याओं का उल्लेख पिछले पृष्ठों पर किया जा चुका है। योगी साधक को अपने महान् लक्ष्य के लिए उन्हें अनिवार्य रूप से अपनाना होता है। इनके अतिरिक्त योगाभ्यास की कुछ ऐसी क्रियाएँ भी प्रचलित हैं, जिन्हें न तो अनिवार्य कह सकते हैं और न निरर्थक। उन्हें यौगिक क्रियाओं के रूप में मान्यता प्राप्त है तथा उनका समुचित अभ्यास एक सीमा तक साधक को सुनिश्चित लाभ पहुँचाता है। वे हैं—आसन, प्राणायाम, बंध एवं मुद्राएँ। इसी सहयोगी शृंखला में है साधक का आहार। इसके अंतर्गत उपवास एवं दिव्य औषधियों का प्रयोग भी आता है।

उपर्युक्त सभी प्रक्रियाएँ साधक के लिए उपयोगी हैं, पर इन्हें आवश्यकता से अधिक महत्त्व भी नहीं दिया जाना चाहिए। साधना समग्र एवं संतुलित होनी चाहिए। बहुधा देखा जाता है कि साधक किसी एक पक्ष से अत्यधिक प्रभावित हो जाते हैं। उस स्थिति में एक को उचित से अधिक महत्त्व देने लगते हैं, तो स्वभावतः दूसरे उपयोगी पक्षों की उपेक्षा होने लगती है। ऐसा बहुधा इसलिए भी हो जाता है कि जिज्ञासु साधक केवल पुस्तकों से पढ़कर साधनाएँ प्रारंभ करना चाहते हैं। समग्र साधना का संतुलन बनाकर पुस्तकें कम ही लिखी जाती हैं। किसी एक पक्ष, एक प्रक्रिया की पुस्तक में स्वाभाविक रूप से उस पक्ष के संबंध में कुछ अतिरंजित प्रतिपादन रहते हैं। उन्हीं से प्रभावित होकर साधक किसी एक पक्ष को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे जाते हैं।

इस प्रकार के भटकाव का एक और भी कारण होता है। वह है किसी कथित सिद्धि विशेष के प्रति उद्यत आग्रह। लोग सामान्य चर्चाओं में किन्हीं विशिष्ट सिद्धियों के नमक-मिर्च मिश्रित अनेक विवरण सुनते रहते हैं। कई बार सुनने और उन्हें चिंतन में स्थान मिलने से उनके प्रति मोह पैदा हो जाता है। ऐसी स्थिति में साधक योग-साधना के प्रमुख उद्देश्य को जाने बिना ही, उस सिद्धि विशेष

के लिए योग-साधना प्रारंभ करना चाहता है। उसे जब किसी क्रिया विशेष का अतिरंजित वर्णन मिलता है, तो वह उसे अपने मोह के कारण पत्थर की लकीर मान लेता है। ऐसा साधक प्रथम तो साधना के शाश्वत नियमों, सिद्धांतों को जानता ही नहीं, यदि कोई उसे बतलाए भी तो पूर्वाग्रहग्रस्त होने के कारण वह उसे मान नहीं पाता।

योग-साधनाओं के नाम पर आजकल जो कुछ सीखा-सिखाया एवं किया-कराया जा रहा है, उसमें अधिकांश ऊपर वर्णित स्तर एवं स्थिति की परिधि में आते हैं। कोई मात्र आसन-शिथिलीकरण को, कोई किंचित् से ध्यान एवं प्राणायाम को ही समग्र योग-साधना की संज्ञा देकर उसी में लगे दिखते हैं। उन्हीं आधारों पर समाधि और कुंडलिनी जागरण जैसी दुर्लभ सिद्धियों, उपलब्धियों का राग आलापते, बाल विनोद से मन भरते दिखाई देते हैं। उनमें ईमानदारी से क्रमिक चरण बढ़ाकर बढ़ने वालों का एकदम अभाव है—ऐसा तो नहीं, किंतु भटकाव में भटकने वालों की संख्या भी बेहिसाब है।

ब्रह्मवर्चस् साधना के साधक को संतुलित साधना क्रम में दीक्षित-प्रवृत्त होने की पूरी सावधानी बरतनी होती है। इसलिए विशिष्ट साधनाओं के साथ सहयोगी साधनाओं का भी विवेकपूर्ण, संतुलित समावेश इस साधना में रखा जाता है। न तो उन्हें उपेक्षा के गर्त में पड़ा रहने दिया जाता है और न अत्यधिक महत्त्व मिलने दिया जाता है। साधना प्रशिक्षण के क्रम में हर साधक की स्थिति के अनुरूप सहयोगी साधनाएँ उनके लिए निर्धारित कर दी जाती हैं। फिर भी इन साधनाओं का सर्वोपयोगी, सुलभ स्वरूप यहाँ समझाया जा रहा है। जिन्हें उन विषयों का थोड़ा-बहुत ज्ञान पहले से है, वे इन्हें पढ़कर भी कर सकते हैं। जिन्हें बिलकुल जानकारी नहीं है, वे किसी थोड़े जानकार के सहयोग से इन्हें समझ और कर सकते हैं।

आसन सिद्धि—साधना में आसनों का दोनों प्रकार का संबंध है, प्रत्यक्ष भी और परोक्ष भी। प्रत्यक्ष इसलिए कि साधना किसी-न-किसी आसन में बैठकर ही की जाती है, अधिकांश साधनाओं में मेरुदंड सीधा रखा जाता है। इसके लिए साधक को कोई आसन ठीक इसी प्रकार आना चाहिए तथा उसका अभ्यास भी

होना चाहिए। ठीक प्रकार से आसन को समझकर उसे लगा लेना आसन शुद्धि कहलाती है और जितनी देर साधना करनी है, उतनी देर बिना कष्ट के एक ही आसन में बैठे रहने के अभ्यास को आसन सिद्धि कहते हैं। आसन शुद्ध होना हर हालत में आवश्यक है। आसन सिद्धि जब तक नहीं होती, तब तक साधना के बीच में शांति से आसन बदल लेने में कोई हानि नहीं।

साधना के समय सामान्यतः लोग सुखासन में ही बैठते हैं। वैसे इस प्रयोजन के लिए सुखासन के अतिरिक्त स्वस्तिकासन, सिद्धासन, पद्मासन एवं वज्रासन आदि भी उपयुक्त रहते हैं। कुछ विशेषज्ञों का मत है कि सिद्धासन ब्रह्मचारियों के लिए अधिक उपयुक्त है। गृहस्थों को उसका अभ्यास आधा घंटे से अधिक न करना ही उचित है। वैसे इनमें से किसी भी आसन में साधनाएँ सुविधापूर्वक की जा सकती हैं।

आसनों का साधना से परोक्ष संबंध है। व्यायाम के नाते व्यायाम की अनेक रीतियाँ प्रचलित हैं। सभी से स्वरूप एवं आरोग्य मिलता है। किंतु आसनों को यौगिक व्यायाम के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। अन्य व्यायाम पद्धतियों की अपेक्षा आसन योग साधकों के लिए अधिक उपयुक्त व्यायाम माने जाते हैं। आसनों द्वारा शरीर के व्यायाम की आवश्यकता की पूर्ति के साथ-साथ शरीरस्थ विकारों को बलपूर्वक शरीर से निष्कासित करने की विशेष क्षमता है। इसी के साथ शरीर की विभिन्न महत्त्वपूर्ण ग्रंथियों को ये सीधे प्रभावित कर सकते है। इनके समुचित प्रयोग से शरीर की चय-उपचय प्रक्रिया तथा हारमोन्स आदि रसों के स्राव को नियंत्रित-प्रभावित किया जाना संभव है। इनकी इसी विशेषता के कारण इन्हें चिकित्सा प्रक्रिया का अंग भी मान लिया गया है। योग-साधनाओं द्वारा शरीरस्थ केंद्रों, उपत्यिकाओं को जाग्रत् एवं सक्रिय करने में आसनों से उल्लेखनीय सहयोग प्राप्त हो सकता है। यह तथ्य अब विभिन्न शोध प्रयोगों द्वारा प्रकट हो चुके हैं।

अस्तु, ब्रह्मवर्चस् साधना के साधकों से अपेक्षा की जाती है कि वे आसन-व्यायाम थोड़ा ही सही, पर नियमित करें। जो लोग पहले

से आसन करते हैं, वे अपने ढंग से करते रह सकते हैं। जिन्हें पहले से अभ्यास नहीं है, वे सुगम आसनों से यह क्रम प्रारंभ कर सकते हैं। रुचि और समय को देखते हुए उनका अभ्यास क्रमशः बढ़ाया जा सकता है। प्रारंभ में यदि कोई आसन शुद्ध रूप में नहीं बने, तो जितने अंशों में बने, उतना करते हुए क्रमशः शुद्ध स्थिति तक जाया जा सकता है। अनुभव के आधार पर प्रारंभिक सुगम, माध्यमिक एवं कठिन आसनों के कुछ नाम यहाँ दिए जा रहे हैं।

सरल अभ्यास-क्रम में वज्रासन, सिद्धासन, पादहस्तासन, पश्चिमोत्तान आसन, अर्द्धशलभासन, ताड़ासन, शवासन आदि आते हैं। इन्हें नए साधक दुर्बल प्रकृति के व्यक्ति, पुरुष, महिलाएँ सभी निरापद रूप से कर सकते हैं।

माध्यमिक अभ्यास क्रम में अर्द्धमत्स्येंद्रासन, शलभासन, धनुरासन, हलासन, गरुड़ासन जैसे आसन किये जा सकते हैं। प्रारंभिक अभ्यास से जिनके शरीर में कुछ लचीलापन आ गया हो और कुछ तनाव सह सकते हों, ऐसे व्यक्ति इन्हें कर सकते हैं।

कठिन अभ्यास-क्रम में चक्रासन, जानुशिरासन, गर्भासन, बद्ध पद्मासन, सर्वांगासन, शीर्षासन आदि आते हैं। जिन्हें पहले ही व्यायाम का पर्याप्त अभ्यास हो, शरीर सुदृढ़ एवं लचीला हो, वे ही इस कठिन अभ्यास-क्रम को अपना सकते हैं।

आसनों की उपयोगिता एवं औसत व्यक्ति की सुविधाओं को ध्यान में रखकर आसन, मुद्राओं, पी० टी० आदि को मिलाकर कुछ ऐसे व्यायाम बना दिए गए हैं, जो सभी के लिए सुगम भी हैं और आसन-व्यायाम के प्रयोजन की पूर्ति भी करते हैं। सूर्य नमस्कार उन्हीं में से एक है। ऐसी और भी कई उपयोगी शृंखलाएँ प्रचलित हो गई हैं। ब्रह्मवर्चस् साधकों के लिए ऐसी छोटी-छोटी तीन शृंखलाएँ बनाई गई हैं। गहन अनुभव के आधार पर बनी ये शृंखलाएँ, हर किसी के लिए सुगम और अत्यधिक लाभप्रद सिद्ध हुई हैं। आसनों के भिन्न-भिन्न प्रयोग अलग पुस्तक—आसन और प्राणायाम में दिए गए हैं, कोई पढ़ना चाहें तो उसे भी पढ़ सकते हैं।

क्र० १—(क) सीधे खड़ें हों। हाथ ऊपर उठाएँ। सिर भी ऊपर उठाएँ। श्वास खींचें और पैर की एड़ियाँ उठाते हुए हाथों सहित पूरे शरीर को पूरी शक्ति से ऊपर की ओर खिंचाव पैदा करें। (ताड़ासन की स्थिति) श्वास रोके रहना, सुविधा पूर्वक २-४ सेकंड इस स्थिति में रुकें।

(ख) धीरे से श्वास निकालते हुए कमर से सामने की ओर झुकें। घुटने सीधे खिंचे हुए रखें। हाथ की उँगलियों से पैर के अँगूठे छूने का प्रयास करें। यह बन जाए तो सिर को घुटनों से छुलाने का प्रयास करें।

(ग) श्वास खींचते हुए सीधे खड़े हों। हाथ नीचे स्वाभाविक स्थिति में रहें। इसी स्थिति में हाथ कोहनी से मोड़े बगैर खिंचे हुए पीछे की ओर ले जाएँ। इसी के साथ गरदन ऊपर उठाकर गहरी श्वास लें। १-२ सेकंड रुक कर स्वाभाविक स्थिति में आ जावें।

यही क्रम प्रारंभ ४-५ बार दुहरावें, फिर क्रमशः बढ़ावें।

क्र० २.—(क) दोनों पैरों के पंजे और घुटने-पंजे मिलाकर, घुटने मोड़कर पंजों पर बैठ जावें (वज्रासन की तरह)। हाथ ऊपर उठाकर श्वास खींचते हुए कमर जितनी पीछे झुका सकें, झुकाएँ।

(ख) श्वास निकालते हुए आगे की ओर झुकें। पूरे झुककर हथेलियों सहित, कोहनी तक हाथ धरती से सटा दें। फिर भी जमीन से छू जाए। (शशांक आसन की तरह)।

(ग) हथेलियाँ जमीन से सटाए रखें। कोहनियाँ उठाकर हाथों पर वजन लें। पंजे जमीन पर उसी स्थान पर रखे रहकर घुटने सीधे करते हुए शरीर को आगे बढ़ाएँ और कोहनियाँ सीधी करते चलें। (दंड लगाने की तरह) कोहनी सीधी हो जाने पर श्वास खींचते हुए गरदन उठाकर खींचें, रुकें (भुजंगासन की तरह)।

प्रारंभ में यह क्रम भी ४-५ बार दुहरावें, फिर क्रमशः बढ़ावें।

क्र० ३—(क) धरती पर बैठें। पैर सामने की ओर सीधे करें, घुटने जमीन से उठें नहीं। पैरों को, सुविधापूर्वक जितना अधिक फैला सकें फैलाएँ। हाथ भी कंधों की सीध में फैला दें।

(ख) हाथ फैले रखते हुए ही कमर घुमाकर, बायें हाथ से दाएँ पैर का पंजा छूने का प्रयास करें, ऐसा करते हुए गरदन उलटी दिशा में घुमाकर बायें पैर का पंजा देखें।

(ग) अब स्थिति बदलें। कमर घुमाते हुए दायें हाथ से बायें पैर का पंजा छूने का प्रयास करें तथा गरदन घुमाकर दायें पैर का पंजा देखें।

यह क्रिया मध्यम गति से १ मिनट तक दुहराते रहें। श्वास स्वाभाविक रूप से चलने दें।

ये तीनों क्रियाएँ थोड़े अभ्यास से हर स्थिति के पुरुष एवं महिलाओं के लिए साध्य है। शक्ति एवं सुविधानुसार इन्हें क्रमशः बढ़ाया जा सकता है।

प्राणायाम विज्ञान—प्राणायाम को योग-साधना की लगभग प्रत्येक धारा में पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। यह विद्या भारतीय योगियों की एक अतिविशिष्ट खोज है। यह सृष्टि विभिन्न स्तर के प्राण प्रवाहों से भरी हुई है। साधक उसे सहज ही प्राप्त कर सकता है। किंतु प्राणशक्ति ठहरती उतनी ही मात्रा में है, जितने को धारण करने की साधक में क्षमता है। प्राणायाम से साधक की प्राण धारण करने की और उसको प्रयुक्त करने की क्षमता का विकास होता है।

भौतिक विज्ञान की सीमा तीन आयामों—लम्बाई, चौड़ाई एवं ऊँचाई या गहराई तक है। परंतु अध्यात्म विज्ञान में इनके अतिरिक्त और भी आयाम हैं। उनमें से एक प्राण का आयाम भी है। इस आयाम से युक्त व्यक्ति देखने में काया की दृष्टि से छोटा भी हो सकता है, पर उसकी प्राण संपदा अद्‌भुत् होती है। दो बैटरियाँ एक आकार की दिखे भलें, पर उनमें विद्युत् विभव (इलेक्ट्रिक चार्ज) संग्रहीत करने की क्षमता में भारी अंतर हो सकता है। दो एक से दिखने वाले जनरेटरों को जब घुमाया जाता, तो अंदर की वाइंडिंग के भेद से उनसे पैदा होने वाली बिजली में भारी अंतर हो सकता है।

प्राणायाम से साधक का अंत: तंत्र श्रेष्ठ बैटरी एवं श्रेष्ठ जनरेटर के स्तर को बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान मिलता है।

प्राणायाम साधना द्वारा साधक के शरीर में संव्याप्त सीमित प्राण का संयोग ब्रह्मांडव्यापी महाप्राण से होता है। इस संयोग से शरीरस्थ प्राण का नवीनीकरण हो जाता है। किसी यंत्र में भरा हुआ जल कालांतर में दूषित होने लगता है। ऐसा सिर्फ इसलिए होता है कि वह सीमित क्षेत्र में कैद है। उसे मुक्त जल प्रवाह से जोड़ दिया जाए। ऐसा करने से यंत्र पुन: शुद्ध जल से युक्त होकर पूर्ण क्षमता से कार्य करने लगता है। प्राणायाम साधना द्वारा कुछ इसी प्रकार का लाभ साधक को प्राप्त होता है।

प्राण को चेतन ऊर्जा कहा जाता है। भौतिक विज्ञान के अंतर्गत ऊर्जा के अनेक रूप हैं। उनमें विद्युत् ऊर्जा का ऐसा रूप है, जिसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने तथा ऊर्जा के किसी भी अन्य रूप में रूपांतरित करने में सबसे अधिक सुविधा रहती है। चेतन जगत् में ऐसी ही क्षमता प्राण की है। इसके माध्यम से योगी शरीर के अंदर से लेकर ब्रह्मांड के सुदूर क्षेत्रों तक इच्छित प्रयोग करने में समर्थ होता है। प्राण शक्ति का संपादन पुरुषार्थ से भी किया जाता है और अनुदानों से भी वह प्राप्त होती है। उसे धारण करने की क्षमता के विकास में प्राणायाम से पर्याप्त सहायता मिलती है।

प्राणायाम का संबंध मनुष्य के स्वास्थ्य और आरोग्य से भी है। शरीर के अंदर जो भी हलचलें चलती हैं, उसमें प्राण की भूमिका विभिन्न रूपों में होती है। मानव शरीर में पाँच महाप्राण (प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान) जिन्हें ओजस् कहते हैं तथा पाँच लघु प्राण (नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय), जिन्हें रेतस् कहते हैं, का निवास होता है। प्रत्येक की भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ हैं, पर है यह एक ही महाशक्ति के अंग। शरीर की सूक्ष्म संरचना एवं कार्यविधि की सक्षमता एवं व्यतिरेक पर ही आत्मिक, मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य का स्वरूप बनता है। प्राण के इन स्वरूपों में किसी भी प्रकार का असंतुलन शरीर को भी प्रभावित करता है। इसीलिए प्राणविद्या एवं प्राणायाम विज्ञान की आवश्यकता एवं महत्ता साधकों को बतलाई जाती है।

प्राणायाम की अनेक प्रणालियाँ प्रचलित हैं। उन प्रणालियों को यदि वर्गीकृत किया जाए, तो वे तीन मुख्य वर्गों में बाँटी जा सकती हैं। (१) सूक्ष्म व्यायाम के रूप में जिसे पाश्चात्य जगत् में डीप ब्रीदिंग एक्सरसाइज कहते हैं। (२) श्वास को तालबद्ध करने का अभ्यास, इससे शरीरस्थ प्राण को सशक्त बनाना तथा उसे अपने नियंत्रण में लाना संभव होता है। (३) प्राणाकर्षण प्रयोग इस माध्यम से अंतरिक्ष के प्राण भंडार से प्राणानुदान प्राप्त किए जा सकते हैं। इनकी विशेषताओं के विवरण इस प्रकार हैं—(१) सूक्ष्म व्यायाम—इसके अंतर्गत गहरे श्वास-प्रश्वास के अभ्यास से लेकर, ऋतुओं एवं साधक की प्रकृति के अनुरूप अनेक प्रकार के प्राणायाम आते हैं। ये सब साधक के शरीर की क्षमता बढ़ाने एवं आरोग्य के लिए उपयोगी हैं। यही रीति फेफड़ों को स्वस्थ रखने वाली, रक्त को शुद्ध करने वाली, शरीर के अंग-प्रत्यंग में चैतन्यता प्रवाहित करने वाली एवं पाचन क्रिया को सुसंतुलित बनाए रखने वाली है। इसके अंतर्गत शीतली, शीत्कारी, सूर्यवेधन, उज्जायी, भस्त्रिका कपालभाति आदि प्राणायाम में आते हैं। गहरे श्वास-प्रश्वास की क्रियाएँ भी इसी की परिधि में आती हैं। (२) तालयुक्त श्वास द्वारा मनुष्य आरोग्य के अतिरिक्त अन्य सूक्ष्म लाभ भी प्राप्त कर सकता है। हठयोग के अभ्यासों की यह कुंजी है। प्रकृति के अंतराल में ताल की ही व्यापकता है। यदि अनंत चैतन्य शक्ति को समुद्र मान लिया जाए तो हमारा शरीर एक छोटी खाड़ी की तरह है, जो समुद्र के ज्वार-भाटों से सतत प्रभावित होती रहती है। तालयुक्त श्वास द्वारा सारा शरीर प्रकृति की स्फुरणाओं, स्पंदनों के साथ चलने लगता है। शरीर का सुर ठीक हो जाने पर, यह शरीर के किसी भी भाग में अधिक नाड़ीबल प्रवाहित कर सकता है, जिससे शरीर को अधिक शक्ति मिल सके। तालयुक्त श्वास लेने में योगी का नियम यह है कि श्वास और प्रश्वास दोनों में मात्राएँ समान रहें। श्वास को भीतर रोकने तथा श्वासों के बीच बिना श्वास के रहने की मात्राएँ श्वास और प्रश्वास की मात्राओं से आधी रहें। थोड़े अभ्यास और धैर्य से साधक उसकी गति के साथ शरीर गतिमान् होते अनुभव कर सकता

है। (३) प्राणाकर्षण की प्रक्रिया द्वारा जो हर उम्र के साधक अपने अंदर प्राणतत्त्व की मात्रा को निरंतर बढ़ाता रह सकता है। साधना स्थली पर सुविधापूर्वक आसन में पूरक, अंतःकुंभक, रेचक एवं बाह्य कुंभक के सुपरिचित अभ्यासों के साथ जुड़ी भावनाओं द्वारा यह अभ्यास किया जा सकता है।

व्यायाम के रूप में प्रयुक्त प्राणायाम साधक अपनी रुचि एवं अभ्यास के अनुसार कर सकते हैं। ब्रह्मवर्चस् साधना काल में आवश्यकतानुसार साधकों को—विधियाँ बताई जाती हैं। जिन्हें रुचि है, वे किसी जानकारी से इन्हें सीख और कर सकते हैं। उसमें चार क्रियाएँ होती हैं—

(१) पूरक—श्वास अंदर खींचना (२) अंतःकुंभक—श्वास को अंदर रोकना (३) रेचक—श्वास बाहर निकालना (४) बाह्य कुंभक। व्यायामपरक प्राणायामों में बाह्य कुंभक अनिवार्य नहीं होता। रेचक पूरी तरह करके ही अगला प्राणायाम प्रारंभ कर दिया जाता है। तालबद्ध प्राणायाम और प्राण-प्रयोग के प्राणायामों में बाह्य कुंभक अनिवार्यतः किया जाता है।

व्यायामपरक प्राणायामों में पूरक, कुंभक रेचक की तरह की मात्राएँ चलती हैं। सबके लिए सुगम मात्रा १ : २ : १ रहती है। अर्थात् जितने में पूरक उससे दूना अंतःकुंभक एवं उतने में ही रेचक किया जाए।

इस प्रकार के पाँच सर्वापयोगी प्राणायामों की विधि संक्षेप में यहाँ दी जा रही है—

लोम-विलोम प्राणायाम में दाये-बायें नासा-छिद्रों से वेगपूर्वक रेचक, पूरक क्रम २०-२५ बार किया जाता है। इसके अभ्यास से नासिका तथा फेफड़ों के मल की निवृत्ति होती है। श्वास-प्रश्वास की गति सम-सुगम होने से मन शांत और शरीर स्वस्थ रहता है। मस्तिष्क में हलकापन आ जाता है।

सूर्यभेदी प्राणायाम में पुनः सूर्यनाड़ी से (दायाँ नथुना) पूरक एवं चंद्रनाड़ी (बायाँ नथुना) से रेचक किया जाता है। इसे प्रायः शीतकाल में ही किया जाता है। शरीर विज्ञान की दृष्टि से यह पित्त को बढ़ाता,

कफ को नष्ट करता है। पाचन शक्ति को तीव्र करता तथा देह में स्वेद लाकर मलों का निष्कासन करता है। योग विज्ञान की दृष्टि से यह यौगिक चक्रों को जगाने वाला है। इसका प्रभाव विशुद्धि और आज्ञाचक्र पर पडता है। घेरंड संहिता में आया है।

कुंभकः सूर्य भेदस्तु जरामृत्यु विनाशकः।
बोधयेत् कुंडली शक्तिं देहानल विवर्धनः।
इतितं कथितं चण्डं सूर्यभेदनमुमत्तम।

बुढ़ापे और मृत्यु को देह से भगाने वाला यह प्राणायाम अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

उज्जायी प्राणायाम में जालंधर बंध के साथ दोनों नासापुटों से प्राणवायु का पूरक (कंठ से हृदय तक) तथा कुंभक के उपरांत दायें नथुने से रेचक किया जाता है। हृदय चक्र को जाग्रत् करने में यह विशिष्ट प्रयोग है। कंठ का बलगम, नाड़ियों का मल, वीर्यदोष एवं खाँसी आदि का निवारण इसमें होता है। संगीत सीखने वालों को इससे विशेष लाभ होता है।

शीतकारी प्राणायाम में मुख के द्वारा जीभ से सीत्कार करते हुए पूरक तथा नासिका से रेचन किया जाता है। यह अजीर्ण, कफ, पित्त-नाशक है। शरीर में शक्ति एवं कांति लाता है। उच्च रक्तचाप के मुख्य कारणों का यह शामक है।

इससे शरीर में ठंडक होती है, निद्रा कम होती है तथा विशेषकर भौंहें, गले, नाक के रोगों में लाभ पहुँचता है।

भस्त्रिका एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्राणायाम है। दमा-श्वास के रोगों एवं कमजोर फेफड़ों को इससे विशेष लाभ पहुँचता है।भस्त्रिका का अर्थ धौंकनी होता है, जिससे लुहार आग को तेज करता है। इस क्रिया में कई बार पूरक, रेचक तेजी के साथ अविराम करने के पश्चात् एक गहरा पूरक खींचकर अंतःकुंभक लगा लिया जाता है। यथासंभव उस स्थिति में रहकर फिर धीरे-धीरे श्वास छोड़ देते हैं। योग साधक को इस प्राणायाम से प्राणों में स्थिरता आती है, मन पर

नियंत्रण स्थापित होता है। उच्चस्तरीय उपचारों के लिए जिस मनोभूमि की आवश्यकता होती है।

उपर्युक्त वर्णित प्राणायाम अनेक प्रकारों में चुने हुए विभिन्न कोटि के हैं। इनके अलावा भी साधक की प्रकृति के अनुकूल विभिन्न प्रकार के प्राणायामों का प्रावधान प्रत्यक्ष संदर्श के बाद किया जा सकता है।

साधना प्रकरण में प्राण-प्रयोग के प्राणायामों का महत्त्व अधिक है। हर साधक को उपासना के पूर्व षटकर्म के साथ प्राणायाम भी बतलाया जाता है। ब्रह्मवर्चस् साधना में उसे अधिक क्रमबद्ध बनाया जाता है। यह विशिष्ट प्रयोग साधक के स्तर और स्वभाव को देखकर बतलाए जाते हैं। यहाँ इस प्रक्रिया के अंतर्गत प्रयुक्त प्राणायाम की पाँच विधियाँ दी जा रही हैं। इनका एक-एक करके अभ्यास कोई भी कर सकता है।

१. प्राणाकर्षण प्राणायाम—

(१) "प्रातःकाल नित्यकर्म से निवृत्त होकर पूर्वाभिमुख पालथी मारकर बैठिए। दोनों हाथ घुटनों पर रखिए। मेरुदंड सीधा रखिए। नेत्र बंद कर लीजिए। ध्यान कीजिए कि अखिल आकाश में तेज और शक्ति से ओत-प्रोत प्राणतत्त्व व्याप्त हो रहा है। गरम भाप के, सूर्य के प्रकाश में चमकती हुई बादलों जैसी शक्ल के प्राण का उफान हमारे चारों ओर उमड़ता चला आ रहा है और उस प्राण उफान के बीच हम निश्चिंत, शांत चित्त एवं प्रसन्न मुद्रा में बैठे हुए हैं।"

(२) "नासिका के दोनों छिद्रों से धीरे-धीरे श्वास खींचना आरंभ कीजिए और भावना कीजिए कि प्राणतत्त्व के उफनते हुए बादलों को हम अपनी श्वास द्वारा भीतर खींच रहे हैं। जिस प्रकार पक्षी अपने घोंसले में, साँप अपने बिल में प्रवेश करता है, उसी प्रकार यह अपने चारों ओर बिखरा हुआ प्राण प्रवाह हमारी नासिका द्वारा श्वास के साथ शरीर के भीतर प्रवेश करता है और मस्तिष्क छाती, हृदय, पेट, आँतों से लेकर समस्त अंगों में प्रवेश कर जाता है।"

(३) जब श्वास पूरी खिंच जाए तो उसे भीतर रोकिए और भावना कीजिए कि, "जो प्राणतत्त्व खींचा गया है, उसे हमारे भीतरी अंग-प्रत्यंग सोख रहे हैं। जिस प्रकार मिट्टी पर पानी डाला जाए तो वह उसे सोख जाती है, उसी प्रकार अपने अंग सूखी मिट्टी के समान हैं और जलरूपी इस खींचे हुए प्राण को सोखकर अपने अंदर सदा के लिए धारण कर रहे हैं। साथ ही प्राणतत्व में सम्मिश्रित चैतन्य, तेज, बल, उत्साह, साहस, धैर्य, पराक्रम सरीखे अनेक तत्त्व हमारे अंग-प्रत्यंग में स्थिर हो रहे हैं।"

(४) "जितनी देर तक श्वास आसानी से रोकी जा सके, उतनी देर रोकने के बाद धीरे-धीरे श्वास बाहर निकालिए, साथ ही भावना कीजिए कि प्राणवायु का सारतत्त्व हमारे अंग-प्रत्यंगों के द्वारा खींच लिए जाने के बाद अब वैसा ही निकम्मा वायु बाहर निकाला जा रहा है जैसा कि मक्खन निकाल लेने के बाद निस्सार दूर हटा दिया जाता है। शरीर और मन में जो विकार थे, वे सब इस निकलती हुई श्वास के साथ घुल गए हैं और काले धुएँ के समान अनेक दूषणों को लेकर वह बाहर निकल रहे हैं।"

(५) "पूरी श्वास बाहर निकल जाने के बाद कुछ देर बाहर श्वास रोकिए अर्थात् बिना श्वास के रहिए और भावना कीजिए कि अंदर के जो दोष बाहर निकाले गए थे, उनको वापस न लौटने देने की दृष्टि से दरवाजा बंद कर दिया गया है और वे बहिष्कृत होकर हमसे बहुत दूर उड़े जा रहे हैं।"

इस प्रकार पाँच अंगों में विभाजित इस प्राणाकर्षण प्राणायाम को नित्य ही जप से पूर्व करना चाहिए। आरंभ ५ प्राणायाम से किया जाए। अर्थात् उपर्युक्त क्रिया पाँच बार दुहराई जाए। इसके बाद हर महीने एक प्राणायाम बढ़ाया जा सकता है। यह प्रक्रिया धीरे-धीरे बढ़ाते हुए एक वर्ष में आधा घंटा तक पहुँचा देनी चाहिए।

२. लोम-विलोम सूर्यवेदन प्राणायाम—

प्रथम वर्ष में उपर्युक्त प्राणाकर्षण प्राणायाम सिखाया गया था और द्वितीय वर्ष में लोम-विलोम सूर्यवेधन प्राणायाम का अभ्यास बताया गया था, जिसकी पद्धति निम्न प्रकार है—

(१) किसी शांत, एकांत स्थान में प्रातःकाल स्थिर चित्त होकर बैठिए। पूरब की ओर मुख, पालथी मारकर सरल पद्मासन से बैठना, मेरुदंड सीधा, नेत्र अधखुले, घुटनों पर दोनों हाथ। यह प्राणमुद्रा कहलाती है, इसी पर बैठना चाहिए।

(२) बायें हाथ को मोड़कर तिरछा कीजिए। उसकी हथेली पर दाहिने हाथ की कोहनी रखिए। दाहिना हाथ ऊपर उठाइए। अँगूठा दाहिने नथुने पर और मध्यमा तथा अनामिका उँगलियाँ बायें नथुने पर रखिए।

(३) बायें नासिका के छिद्र को मध्यमा (बीच की) और अनामिका (तीसरे नंबर की) उँगली से बंद कर लीजिए। श्वास फेफड़े तक ही सीमित न रहे, उसे नाभि तक ले जाना चाहिए और धीरे-धीरे इतनी वायु पेट में ले जानी चाहिए, जिससे वह पूरी तरह फूल जाए।

(४) ध्यान कीजिए कि सूर्य की किरणों जैसा प्रकाश वायु सम्मिश्रित होकर दाहिने नासिका छिद्र में अवस्थित पिंगला नाड़ी से अपने शरीर में प्रवेश कर रहा है और उसकी ऊष्मा अपने भीतर अंग-प्रत्यंगों को तेजस्वी बना रही है।

(५) श्वास को कुछ देर भीतर रोकिए। दोनों नासिका बंद कर लीजिए और ध्यान कीजिए कि नाभिचक्र के प्राण द्वारा एकत्रित हुआ तेज नाभिचक्र में एकत्रित हो रहा है। नाभि-स्थल में चिरकाल से प्रसुप्त पड़ा हुआ सूर्यचक्र इस आगत प्रकाशवान् प्राणवायु से प्रभावित होकर चमकीला हो रहा है और उसकी चमक बढ़ती जा रही है।

(६) दाहिने नासिका को अँगूठे से बंद कर लीजिए। बायाँ खोल दीजिए। श्वास को धीरे-धीरे बायें नथुने से बाहर निकालिए और ध्यान कीजिए कि चक्र को सुषुप्त और धुँधला बनाते रहने वाले कल्मष इस छोड़ी हुई श्वास के साथ बाहर निकल रहे हैं। इन कल्मषों के मिल जाने के कारण श्वास खींचते समय जो शुभ्र वर्ण तेजस्वी प्रकाश भीतर गया था, वह अब मलिन हो गया और पीतवर्ण

होकर श्वास के साथ बायें नथुने की इड़ा नाड़ी द्वारा बाहर निकल रहा है।

(७) दोनों नथुने फिर बंद कर लीजिएगा। फेफड़ों को बिना श्वास के खाली रखिए। ध्यान कीजिए कि बाहरी प्राण बाहर रोक दिया गया है, उसका दबाव भीतरी प्राण पर बिलकुल भी न रहने से वह हलका हो गया है। नाभिचक्र में जितना प्राण सूर्यपिंड की तरह एकत्रित था, वह तेजपुंज की तरह ऊपर की ओर अग्नि शिखाओं की तरह ऊपर उठ रहा है। उसकी लपटें पेट के ऊर्ध्व भाग फुफ्फुस को वेधती हुई कंठ तक पहुँच रही हैं। भीतरी अवयवों में सुषुम्ना नाड़ी में से प्रस्फुटित हुआ वह प्राण तेज अंतःप्रदेश को प्रकाशमान बना रहा है।

(८) अँगूठे से दाहिना छिद्र बंद कीजिए और बाएँ नथुने से श्वास खींचते हुए ध्यान कीजिए कि इड़ा नाड़ी द्वारा सूर्य प्रकाश जैसा प्राण तत्त्व श्वास से मिलकर शरीर में भीतर प्रवेश कर रहा है और वह तेज सुषुम्ना विनिर्मित नाभि-स्थल के सूर्य चक्र में प्रवेश करके वहाँ अपना भंडार जमा कर रहा है। इस तेज संचय से सूर्य चक्र क्रमशः अधिक तेजस्वी बनता चला जा रहा है।

(९) दोनों नासिका छिद्रों को बंद कर लीजिए। श्वास को भीतर रोकिए। ध्यान कीजिए कि श्वास के साथ एकत्रित किया हुआ तेजस्वी प्राण नाभि स्थित सूर्यचक्र में अपनी तेजस्विता को चिरस्थायी बना रहा है। तेजस्विता निरंतर बढ़ रही है और वह अपनी लपटें पुनः ऊपर की ओर अग्नि शिखा की तरह ऊर्ध्वगामी बना रही है। इस तेज से सुषुम्ना नाड़ी निरंतर परिपुष्ट हो रही है।

(१०) बायाँ नथुना बंद कीजिए और दाहिने से श्वास धीरे-धीरे बाहर निकालिए। ध्यान कीजिए कि सूर्य चक्र का कल्मष धुएँ की तरह तेजस्वी श्वास में मिलकर उसे धुँधला-पीला बना रहा है और पीली प्राण वायु पिंगला नाड़ी द्वारा बाहर निकल रही है। भीतरी कषाय-कल्मष बाहर निकालने से अंतःकरण बहुत हलका हो रहा है।

(११) दोनों नासिका छिद्रों को पुनः बंद कीजिए और उपर्युक्त नं. ६ की तरह फेफड़ों को श्वास से बिलकुल खाली रखिए। नाभि

चक्र से कंठ तक सुषुम्ना का प्रकाश पुंज ऊपर उठता देखिए। भीतरी अवयवों में दिव्य ज्योति जगमगाती अनुभव कीजिए।

यह एक लोम-विलोम सूर्यवेधन प्राणायाम हुआ। श्वास के साथ खींचा हुआ प्राण नाभि में स्थित सूर्यचक्र को जाग्रत् करता है। उसके आलस्य और अंधकार को वेधता है और वह सूर्य चक्र अपनी परिधि का वेधन करता हुआ सुषुम्ना मार्ग से उदर, छाती और कंठ तक अपना तेज फेंकता है। इन कारणों से इसे सूर्य वेधन कहते हैं। लोम कहते हैं सीधे को, विलोम कहते हैं उलटे को। एक बार सीधा, एक बार उलटा। फिर उलटा, फिर सीधा। फिर उलटा, बायें से खींचना, दायें से निकालना। दाहिने से खींचना बायें से निकालना। यह उलटा-सीधा चक्र रहने से इसे लोम-विलोम कहते हैं। प्राणायाम की प्रकृति के अनुसार इसे लोम-विलोम सूर्यवेधन प्राणामाम कहा जाता है।

३. नाड़ी शोधन प्राणायाम—

(१) प्रातःकाल पूर्व को मुख करके कमर सीधी रखकर सुखासन से पालथी मारकर बैठिए। नेत्रों को अधखुले रखिए।

(२) दाहिना नासिका छिद्र बंद कीजिए। बायें छिद्र से श्वास खींचिए और उसे नाभि चक्र तक खींचते जाइए।

(३) ध्यान कीजिए कि नाभि-स्थान में पूर्णिमा के पूर्ण चंद्रमा के समान पीतवर्ण शीतल प्रकाश विद्यमान है। खींचा हुआ श्वास उसे स्पर्श कर रहा है।

(४) जितने समय में श्वास खींचा गया था, उतने ही समय भीतर रोकिए और ध्यान करते रहिए कि नाभि चक्र में स्थित पूर्ण चंद्र के प्रकाश को खींचा हुआ श्वास स्पर्श करके स्वयं शीतल और प्रकाशवान् बन रहा है।

(५) जिस नथुने से श्वास खींचा था, उसी बाएँ छिद्र से ही श्वास बाहर निकालिए और ध्यान कीजिए कि नाभि चक्र के चंद्रमा को छूकर वापस लौटने वाली प्रकाशवान् एवं शीतल वायु इड़ा नाड़ी

की छिद्र नलिका को शीतल एवं प्रकाशवान् बनाती हुई वापस लौट रही है।

(६) कुछ देर श्वास बाहर रोकिए और फिर उपर्युक्त क्रिया आरंभ कीजिए। बायें नथुने से ही श्वास खींचिए और उसी से निकालिए। दाहिने छिद्र को अँगूठे से बंद रखिए। इसी को तीन बार कीजिए।

(७) जिस प्रकार बायें नथुने से पूरक, कुंभक, रेचक, बाह्य कुंभक किया था, उसी प्रकार दाहिने नथुने से भी कीजिए। नाभि चक्र में चंद्रमा के स्थान पर सूर्य का ध्यान कीजिए और श्वास छोड़ते समय भावना कीजिए कि नाभि-स्थित सूर्य को छूकर वापस लौटने वाली वायु श्वास नली के भीतर उष्णता और प्रकाश उत्पन्न करती हुई लौट रही है।

(८) बायें नासिका स्वर को बंद रखकर दाहिने छिद्र से भी इस क्रिया को तीन बार कीजिए।

(९) अब नासिका के दोनों छिद्र खोल दीजिए। दोनों से श्वास खींचिए और भीतर रोकिए तथा मुँह खोलकर श्वास बाहर निकाल दीजिए। यह विधि एक बार ही करनी चाहिए।

तीन बार बायें नासिका छिद्र से साँस खींचते और छोड़ते हुए नाभि चक्र में चंद्रमा का शीतल ध्यान, तीन बार दाहिने नासिका छिद्र से साँस खींचते छोड़ते हुए सूर्य का उष्ण प्रकाश वाला ध्यान और एक बार दोनों छिद्रों से साँस खींचते हुए मुख से साँस निकालने की क्रिया ये सात विधान मिलकर एक नाड़ी-शोधन प्राणायाम बनता है।

४. प्राणोन्नयन प्राणायाम—

(१) सीधे शुद्ध आसन पर बैठें। नेत्र बंद करके अपने चारों ओर प्राण सरोवर का ध्यान करें।

(२) स्वाभाविक रूप से गहरी श्वास धीरे-धीरे खींचें। भावना करें कि प्राण की धारा नासिका मूल से मूर्द्धा भाग में होती हुई मेरुदंड मार्ग से मूलाधार चक्र तक जा रही है।

(३) श्वास पूरी होने पर उसे थोड़ा रोकें तथा अनुभव करें कि प्रविष्ट दिव्य प्राण मूलाधार क्षेत्र के शक्ति बीज को उद्दीप्त कर रहा है। उस मंथन हलचल से उसमें सुप्त शक्ति उद्दीप्त हो रही है।

(४) श्वास धीरे-धीरे निकालना प्रारंभ करें। भावना करें कि मेरुदंड मार्ग से दिव्य प्राण वापस हो रहा है, उसके साथ शक्ति-क्षेत्र की जाग्रत् ऊष्मा सहस्रार की ओर सुषुम्ना मार्ग से बढ़ रही है।

(५) पूरी श्वास बाहर निकाल देने पर बाह्य कुंभक करें। ध्यान करें कि मूलाधार से सहस्रार तक मेरुदंड के मध्य स्थित सुषुम्ना मार्ग ट्यूब की तरह प्रकाशित हो रहा है। अधोगामी प्राण ऊर्ध्वगामी बनकर स्वयं को सार्थक अनुभव कर रहा है। उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप शरीर-मन-चित्त सभी दिव्य उल्लास से भर रहे हैं।

५. संयुक्त प्राण प्रयोग—

उपरोक्त पाँचों प्राणायामों का अभ्यास साधक अलग-अलग कर सकते हैं। कहीं मर्यादा लाँघने का प्रयास न किया जाए, तो कोई हानि का भय इनमें नहीं है। विशिष्ट प्रयोजनों के लिए प्राणायामों के संयुक्त प्रयोग भी बतलाए जाते हैं। वह साधक की स्थिति देखकर ही कराए जाते हैं, साथ ही उनमें प्रत्यक्ष मार्गदर्शन की सावधानी भी बरतनी पड़ती है।

कुछ सावधानियाँ—ऊपर बतलाए गए सभी प्राणायाम निरापद हैं। फिर भी इन विशिष्ट साधनाओं में कुछ सावधानियाँ बरती जानी चाहिए। वह इस प्रकार हैं—

(१) प्राणायाम के समय पेट खाली हो। भोजन किए कम-से-कम ५ घंटे तो हो चुके हों।

(२) स्थान स्वच्छ हो तथा स्वच्छ वायु उपलब्ध हो। गंदे और दुर्गंधयुक्त स्थानों पर प्राणायाम न करें।

(३) प्राणायाम क्रमशः बढ़ाए या घटाए जाते हैं। प्रारंभ में तीन प्राणायाम करें। एक प्राणायाम के लिए लगने वाला समय निश्चित हो। कभी जल्दी कभी धीरे करना गलत है। प्राणायाम की संख्या या एक प्राणायाम में लगने वाला समय धीरे-धीरे क्रमशः घटाया या

बढ़ाया जाता है। इस मर्यादा का उल्लंघन करने से हानि हो सकती है।

(४) प्राणायाम साधना के लगभग एक घंटे बाद तक कोई भारी श्रम या काम न किया जाए।

(५) प्राणायाम साधना से अर्जित प्राण शरीर में पचने तक दूसरे व्यक्तियों का स्पर्श एवं कुचालक धातुओं का स्पर्श न करें।

(६) साधना काल में सहवास से बचें। काम-अवयवों को उत्तेजित होने से बचाना आवश्यक है। नंगे पैर रहने की अपेक्षा कपड़े या रबड़ के जूते अथवा लकड़ी की खड़ाऊँ पहनकर रहना अच्छा है।

(७) आहार सात्त्विक रखें, उत्तेजक पदार्थ न खाएँ। तितिक्षापूर्वक रहें। तख्त का उपयोग करें। चारपाई हो, तो उस पर वस्त्र कम-से-कम बिछाएँ।

यह थोड़ी-सी सावधानियाँ हर साधक को प्राणायाम के विशेष अभ्यास की अवधि में रखनी चाहिए। इस प्रत्यक्ष विज्ञान का लाभ हर व्यक्ति सहज ही उठा सकता है।

बंध प्रयोग—प्राणमयकोश की साधना में बंधों का प्रमुख स्थान है। ध्यानात्मक आसनों से पूर्ण लाभ उठाने के लिए उनके साथ-साथ तीन बंध साधते चलने की व्यवस्था योगियों ने की है। प्राणायाम के लिए ये बंध पूरक एवं सहयोगी सिद्ध होते हैं। इनका पूर्ण फल स्वतंत्र तो नहीं, ध्यानात्मक आसनों व प्राणायाम के साथ ही मिलता है, जो मानसिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष के रूप में होता है। ये कुल तीन हैं—

(१) मूल बंध

(२) जालंधर बंध

(३) उड्डीयान बंध।

(१) मूल बंध—प्राणायाम करते समय गुदा के छिद्रों को सिकोड़कर ऊपर खींचे रहना मूलबंध कहलाता है। प्राण की अधोगति रुककर ऊर्ध्वगति होती है। मूलाधार स्थित कुंडलिनी में मूलबंध से स्फुरण होता है। अपान और कूर्म दोनों पर ही मूलबंध

का प्रभाव पड़ता है। ये जिन तंतुओं पर बिखरे-फैले रहते हैं, उनका केंद्रीकरण एक स्थान पर होने लगता है। इसे मूल (जड़) बंध इसलिए कहा जाता है कि यह मनुष्य शरीर के मूल को बाँध देता है। वीर्य का अधःप्रवाह रुककर स्थिरता आती है।

(२) **जालंधर बंध**—मस्तक को झुकाकर ठोढ़ी को कंठकूप में लगाने को जालंधर बंध कहते हैं। जालंधर का अर्थ है, जाल को धारण करना अर्थात् ज्ञानतंतुओं को स्थिर, नियोजित करना। इससे प्रतिक्षण भटकते मस्तिष्क को शांति मिलती है। चित्तवृत्ति शांत होकर स्वास्थ्य और आयु बढ़ती है। इस क्रिया से श्वास-प्रश्वास की गतियों पर अधिकार होता है एवं ज्ञानतंतु बलवान् होते हैं। विशुद्धि चक्र के जागरण में जालंधर बंध से बड़ी सहायता मिलती है।

(३) **उड्डीयान बंध**—पेट में स्थित आँतों को पीठ की ओर खींचने की क्रिया को उड्डीयान बंध कहते हैं। पेट को ऊपर की ओर जितना खींचा जा सके, उतना खींचकर उसे पीछे की ओर पीठ में चिपका देने का प्रयत्न इस बंध में किया जाता है। जीवनी शक्ति को बढ़ाकर दीर्घायु तक जीवन स्थिर रखने का लाभ इससे मिलता है। आँतों की निष्क्रियता दूर होती है एवं पेट की अंदरूनी मालिश हो जाती है। इसके आध्यात्मिक लाभ इससे कहीं अधिक हैं। संस्कृत में 'उड्डीयान' शब्द का अर्थ है 'उड़ना'। कुंडलिनी को जाग्रत् करने अर्थात् चित्तवृत्तियों को अधोमुखी से ऊर्ध्वमुखी करने की पहली सीढ़ी यही है। उससे सुषुम्ना नाड़ी का द्वार खुलता है एवं स्वाधिष्ठान चक्र में चेतना आती है। साधना के लिए वे आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं, जो अगले ऊँची श्रेणी के उपचारों का पथ प्रशस्त करती हैं।

ये तीनों बंध आसनों एवं प्राणायामों के साथ प्रयुक्त होते हैं। मूलबंध का सहज अभ्यास भी लाभप्रद होता है। जालंधर बंध मुख्य रूप से कुंभक के समय प्रयुक्त होता है। उड्डीयान बंध का प्रयोग प्राणायाम में कुंभक तथा रेचक के समय किया जाता है। स्वतंत्र रूप से उदर के व्यायाम के रूप में, नौलीक्रिया के प्राथमिक अभ्यास-क्रम में भी इसकी भूमिका है। कुंडलिनी साधना, शक्तिचालिनी मुद्रा आदि के साथ यह प्राणोन्नयन में सहायक होता है। यह एक संक्षिप्त

विवेचन है। साधकों को इनके विशिष्ट प्रयोग प्रत्यक्ष आवश्यकता देखकर ही बतलाए जाते हैं।

४. मुद्रा उपचार—

मुद्राओं से ध्यान में तथा चित्त को एकाग्र करने में बहुत सहायता मिलती है। इनका प्रभाव शरीर की आंतरिक ग्रंथियों पर पड़ता है। इन मुद्राओं के माध्यम से शरीर के अवयवों तथा उनकी क्रियाओं को प्रभावित, नियंत्रित किया जा सकता है। विभिन्न प्रकार के साधना के उपचार क्रमों में इन्हें विशिष्ट आसन, बंध तथा प्राणायामों के साथ किया जाता है। मुद्राएँ यों तो अनेक हठयोग के अंतर्गत वर्णित हैं। अनेक प्रयोजनों के लिए उनका अलग-अलग महत्त्व है। उनमें कुछ ध्यान के लिए उपयुक्त हैं, कुछ आसनों की पूरक हैं, कुछ तांत्रिक प्रयोगों एवं हठयोग के अंगों के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उन सबके विस्तार में जाना न तो उपयोगी है और न आवश्यक।

प्रस्तुत पंचाग्नि विद्या के अंतर्गत जिन मुद्राओं को महत्त्वपूर्ण पाया गया है, उनका विवरण यहाँ दिया जा रहा है। वे हैं—

१. खेचरी मुद्रा
२. शक्तिचालिनी मुद्रा
३. चेतन मुद्रा
४. उन्मनी मुद्रा
५. शिथिलीकरण मुद्रा।

(१) खेचरी मुद्रा—इनमें से खेचरी मुद्रा को मुख्य योग-साधनाओं में स्थान दिया गया है। उसका विस्तृत विवरण पूर्व पृष्ठों पर दिया जा चुका है। शेष के संक्षिप्त विवरण इस प्रकार हैं—

(२) शक्तिचालिनी मुद्रा—यह वज्रासन, सुखासन, पद्मासन आदि में बैठकर की जाती है। इसके अंतर्गत मल एवं मूत्र संस्थान को संकुचित करके उनका ऊपर को खिंचाव किया जाता है। खिंचाव पूरा हो जाने पर उसे धीरे से शिथिल कर दिया जाता है। यही क्रिया बार-बार दोहराने से शक्तिचालिनी मुद्रा पूर्ण होती है। इसे प्रारंभिक

स्थिति में दो मिनट करना पर्याप्त है। क्रमशः ५-१० मिनट तक इसे बढ़ाया जा सकता है।

यह क्रिया प्रारंभ में ठीक तरह हो नहीं पाती। इसके लिए जाड़ों में अभ्यास किया जा सकता है। पहले केवल मल संस्थान गुदा क्षेत्र को संचालित करें। फिर केवल मूत्र क्षेत्र को संचालित करें। दोनों प्रयोग अलग-अलग ठीक से होने लगें, तब संयुक्त प्रयोग भी ठीक प्रकार हो जाता है।

इससे मूलाधार क्षेत्र जाग्रत् होता है। शक्ति-क्षेत्र को ऊर्जा को सुषुम्ना मार्ग से ऊपर की ओर प्रवाहित करने से भी इसका योगदान होता है। साधक को ऊर्ध्वरेता बनाती है।

(३) **चेतन मुद्रा**—यह बैठे-बैठे या खड़े-खड़े भी की जाती है। क्रम इस प्रकार है। हाथों के अँगूठों से कान के छेद बंद करें, तर्जनियों से नेत्र। पूरा श्वास खींच लें। अब मध्यमा उँगलियों से नासिका पुट तथा अनामिका और कनिष्ठका (छिगुनी) से मुख पर दबाव दें। ठोढ़ी कंठ कूप में जालंधर बंध की तरह लगाएँ। अब अंदर की श्वास का दबाव चेहरे पर डालें। मुँह फूल जाए तथा चेहरे के हर भाग पर दबाव अनुभव हो। सभी छिद्रों पर हाथ की उँगलियों का पर्याप्त दबाव बनाए रखें। सामान्य रूप से इस स्थिति में कुछ सेकंड रुकें। फिर धीरे से वायु का दबाव बंद करें। ठोड़ी कंठ से हटाएँ और उँगलियों का दबाव ढीला करके श्वास धीरे से बाहर निकाल दें। यह एक प्रयोग हुआ आरंभ में तीन बार करें। आवश्यकतानुसार एक-एक करके बढ़ाया जा सकता है। इसे करने के बाद हथेली से चेहरे की तथा उँगलियों के अग्रभाग से सिर को सहला देना चाहिए। जितना दबाव अच्छा लगे, उतना दबाव इस मालिश में डाला जा सकता है।

यह शरीर को सचेष्ट बनाती है। आलस्य, तंद्रा आदि से मुक्ति देती है। शिरोभाग के अवयवों को पुष्ट बनाती है। मस्तिष्क रोगों की संभावना हटाती है। मानसिक क्षमता वृद्धि में सहायक है।

(४) उन्मनी मुद्रा—यह मुद्रा ध्यान के लिएं उपयोगी है। ध्यान के उपयुक्त किसी भी आसन में इसका अभ्यास किया जा सकता है।

सीधे बैठें। नेत्र हलके से बंद करें। नेत्र इतने बंद करें कि नीचे देखने पर पलकों के बीच से प्रकाश आने का अभ्यास होता रहे। पलक स्थिति में रहें, परंतु पुतलियों को सहज स्थिति में रखा जाए तथा साथ ही ध्यान भ्रूमध्य में रखें। ध्यान भ्रूमध्य में रखने के प्रयास में प्रारंभिक साधकों की पुतलियाँ भी ऊपर खिंच जाती हैं। ऐसा होने पर थोड़ी देर में नेत्रों में दर्द-सा होने लगता है। पुतलियाँ ठीक स्थिति में रहें, तो यह कठिनाई नहीं आती।

यह मुद्रा सध जाने पर ध्यान में गति बढ़ जाती है। प्राण इंद्रियों एवं मन सहित मूर्च्छित जैसा हो जाता है। बुद्धि में स्थिरता आने से साधक की पकड़ जप, ध्यान आदि सभी उपचारों में अधिक सटीक हो जाती है।

(५) शिथिलीकरण मुद्रा—इस मुद्रा का अभ्यास शवासन में लेटकर अथवा आरामकुरसी पर शरीर ढीला छोड़कर किया जाता है। शरीर एवं मन-बुद्धि को तनावमुक्त करके नई स्फूर्ति से भर देने में यह साधना असाधारण रूप से उपयोगी है। साधक को शरीर से भिन्न अपनी सत्ता की प्रत्यक्ष अनुभूति इसके अंतर्गत होती है। अपने अंदर द्रष्टा एवं निर्देशक का स्वाभिमान एवं तदनुरूप क्षमता का उदय होता है। इष्ट की गोद में अपने आप को विसर्जित करने का भाव एवं उसके आनंद की अनुभूतियाँ भी इसी साधना के अगले चरणों में होती हैं।

इसे साधक स्वयं आत्मनिर्देशन से भी करते हैं तथा किसी अन्य साधक के द्वारा बाह्य निर्देश से भी इसे संपन्न किया जा सकता है। जब जैसी व्यवस्था हो, वैसा किया जाना उचित है।

शवासन में लेटकर अथवा आरामकुरसी पर शिथिल होकर इसे करते हैं। स्थान कोलाहल से मुक्त हो। मच्छर-मक्खी तंग करें, तो बिजली के पंखे के उपयोग से शरीर पर हलकी चादर डालकर उससे बचा जा सकता है।

पहले शरीर शिथिलीकरण के निर्देश दिए जाते हैं। शरीर के निचले अंगों से प्रारंभ करके ऊपर की ओर यह क्रम चलाया जाता है। हर अंग को एक स्वतंत्र सत्ता मानकर उसे पूर्ण विश्राम करने का स्नेह भरा निर्देश दिया जाता है। ऊपर सिर तक सभी अंगों को निर्देश दिए जा चुकने पर कुछ देर उसी स्थिति में छोड़ा जाए। फिर धीरे से श्वास तीव्र करके शरीर को कड़ा और ढीला करने का निर्देश दिया जाय। अँगड़ाई, करवट आदि जैसा शरीर माँगे उसे कर दिया जाए। २-३ मिनट बाद उठकर अगला कार्य प्रारम्भ किया जा सकता है।

शारीरिक शिथिलीकरण सधने लगे तो क्रमशः मानसिक शिथिलीकरण एवं द्रष्टा रूप में शरीर को पड़ा देखने, चेतना के सरोवर में ईश्वर को वह समर्पित कर देने का भाव किया जा सकता है। शारीरिक शिथिलीकरण से आगे के चरण अधिक अनुभव एवं प्रत्यक्ष मार्गदर्शन चाहते हैं।

शिथिलीकरण के तुरंत बाद कठोर श्रम न किया जाए। सहज टहलने, स्वाध्याय आदि जैसे कार्य करने उचित हैं।

आसन, प्राणायाम, बंध एवं मुद्राओं के प्रयोग ब्रह्मवर्चस् साधना में मुख्य साधना की सहयोगी साधनाओं के रूप में किंतु पूरे मनोयोग से करने-कराने का क्रम चलता जाता है। ये साधनाएँ मुख्य साधनाओं की अपेक्षा अधिक स्थूल होने से इन्हें पकड़ने में साधक को कम कठिनाई होती है, इसलिए सफलताजन्य आत्मविश्वास बढ़ने लगता है। यह आत्मविश्वास भी मुख्य साधना में प्रवेश की साधक की गति को तीव्रतर बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। दोनों प्रकार की साधनाओं के सहारे साधक मुख्य लक्ष्य की ओर सुदृढ़ एवं सुनिश्चित चरण बढ़ाने में समर्थ हो जाता है।

योग-साधना का संपुट—दैनिक अग्निहोत्र

ब्रह्मवर्चस् साधना के साथ यज्ञ भी अनिवार्यतः जुड़ा रहता है। उक्ति है—"योगी को याज्ञिक भी होना चाहिए।" वास्तव में योगी को याज्ञिक और याज्ञिक को योगी होना पड़ता है। योग का अर्थ है

जुड़ना और यज्ञ का अर्थ है—त्याग, बलिदान, समर्पण। जो जुड़ना चाहता है, उसे समर्पित होना होगा; जो समर्पित होना चाहता है, उसे जुड़ना ही पड़ेगा। इस प्रकार के परिवर्तन की प्रेरणा और क्षमता दोनों ही यज्ञ से प्राप्त होती हैं।

ब्रह्मवर्चस् का साधक ब्रह्ममय होना चाहता है और यज्ञ ब्रह्मकर्म कहा गया है। गीताकार के अनुसार ब्रह्म और यज्ञ अविच्छिन्न है

तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।

—गीता ३/१५

इसलिए ब्रह्मवर्चस् का साधक अपने लक्ष्य की सफलता के लिए यज्ञ का सान्निध्य अवश्य प्राप्त करता है और सान्निध्य का लाभ भी अवश्य मिलता है। यदि यज्ञ को पुण्य लूटने वाला पूजा-उपचार मात्र मानकर मंत्र के ढंग से उस क्रिया को पूरा कर लिया जाए, तब तो बात और है, अन्यथा यज्ञ करते हुए यज्ञीय भाव में डूबकर स्वयं को यज्ञ के एक अंग के रूप में अनुभव करने लगता है। अग्नि, समिधा, हवन सामग्री, यज्ञ पात्र, मंत्र आदि के साथ-साथ यज्ञकर्ता भी यज्ञमय हो जाता है। यह लाभ देने वाले की भावना यज्ञ के समय कैसी होनी चाहिए और उसका लाभ क्या होता है? इस संदर्भ में गीता में लिखा है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्म समाधिना॥

अर्थात् यज्ञ में अर्पण करने वाले पात्र (श्रुवादि) भी ब्रह्म है, हवि (हवन योग्य पदार्थ) भी ब्रह्म है, अग्नि ब्रह्म है और आहुतियाँ भी ब्रह्म हैं। इस प्रकार ब्रह्मकर्म रूप यज्ञ में समाधिस्थ पुरुष को ब्रह्म ही प्राप्त होता है।

इस प्रकार यज्ञ करने की प्रक्रिया को 'तद्रूप ध्यान' की संज्ञा दी जाती है। यज्ञ करते हुए प्रारंभ में साधक श्रद्धा से भरकर यज्ञ भगवान् को आहुतियाँ भेंट करता है। वह भाव जीवंत होते-होते यह लगने लगता है कि साधक स्वयं भी समिधा बना हुआ है। यज्ञाग्नि रूप

प्रभु उसे लपेटे है, दिव्य आदान-प्रदान चल रहा है। समिधा रूप साधक अपने व्यक्तित्व को इष्ट से जोड़ रहा है, उसमें घुल रहा है और फलस्वरूप इष्ट की ज्योति उसे प्राप्त हो रही है, दोनों एक हो रहे हैं। प्रारंभ में अपने द्वारा डाली गई आहुतियों से वातावरण में शुचिता-सुगंधि का संचार होता अनुभव करता है। यही भाव प्रदीप्त होता है, तो लगता है आहुति के साथ अपनी सद्भावना, निष्ठा, स्नेह आदि श्रेष्ठ वृत्तियाँ भी अग्निरूप इष्ट को समर्पित हो रही हैं। जिस श्रद्धा से उनकी आहुति दी जा रही है, उसी भावना से इष्ट उन्हें स्वीकार करता है और अपने दिव्य उच्छ्वास के साथ उन्हें वातावरण में बिखेर देता है। इस प्रक्रिया से साधक, इष्ट दोनों उल्लसित हैं और वातावरण शोधित एवं पुष्ट हो रहा है। इस प्रकार के तद्रूप ध्यान में डूबकर जब यज्ञ होता है, तभी साधक **"ब्रह्मकर्म समाधिना"** की स्थिति में पहुँचता है और तभी उसका सहज गंतव्य ब्रह्म बन जाता है।

ब्रह्मवर्चस् साधना में साधक की मनोभूमि इस प्रकार बनाने का प्रयत्न किया जाता है कि वह यज्ञ के ज्ञान और विज्ञान दोनों पक्षों का समुचित लाभ उठा सके। यज्ञ के दोनों ही पक्ष बड़े सशक्त और कल्याणकारी हैं। उनके स्थूल और सूक्ष्म लाभ हर किसी को मिल भी सकते हैं, किंतु हर कोई यज्ञ से वह लाभदायक तत्त्व प्रकट नहीं कर सकता। जैसे लकड़ी को रगड़कर जब उसे प्रज्वलित कर दिया जाए, तो उसकी गरमी का लाभ सबको मिल सकता है, किंतु बिना समुचित प्रयास किए लकड़ी को प्रज्वलित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार यज्ञ का लाभ सबको मिल सकता है। उससे वायुमंडल के शोधन वातावरण के अनुकूलन, सद्विचार, सद्भावों के संचार, मनुष्य के स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरों को नीरोग एवं पुष्ट बनाने जैसे लाभ यज्ञकर्ता को भी मिलते हैं तथा यज्ञीय वातावरण के संपर्क में आने वाले हर व्यक्ति को भी वह प्राप्त हो जाते हैं। किंतु यज्ञ के ज्ञान और विज्ञान पक्ष को प्रकट और सक्रिय कर देना सर्वसाधारण के बस की बात नहीं। उसके लिए यज्ञकर्त्ता को उच्चस्तरीय साधना पुरुषार्थ करना होता है। उपयुक्त वातावरण और मार्गदर्शन और

संरक्षण में नियमित रूप से श्रद्धापूर्वक यज्ञ करने से साधक वह मनोभूमि बना पाता है, जिसके द्वारा यज्ञ का अलभ्य लाभ स्वयं भी उठा सके तथा अन्यों को भी दे सके।

ब्रह्मवर्चस् साधना को पंचाग्नि विद्या भी कहा गया है। अग्नियाँ भी पाँच प्रकार की कही गई हैं और शरीरस्थ प्राण एवं उपप्राण भी पाँच-पाँच है। यज्ञ के माध्यम से साधक के अंदर वह सात्त्विक ऊर्जा प्रकट एवं विकसित होती है, जो कल्मषों को जलाती हुई, पुण्यों को उद्दीप्त करती हुई चरम लक्ष्य की ओर बढ़ने की प्रबल साधक को प्रेरणा एवं प्रचंड शक्ति देने में समर्थ होती है।

अग्नि ने मनुष्य के भौतिक जीवन में चमत्कार कर दिखाए है। अनेक प्रकार की ऊर्जा के रूप में विकसित होकर, वह फैक्टरियों, रेलों, मोटरों से लेकर राकेटों तथा अगणित उपकरणों का संचालन करती है। अंतरंग जगत् में भी उसकी क्षमता अद्भुत है। ऋषियों, योगियों ने उसके उपयोग में विशेषज्ञता प्राप्त की थी और उसी के आधार पर विश्वबंद्य बन गए थे। वह ऊर्जा जब सक्रिय होता है, तो बागी नौकरों के स्थान पर सिद्ध उपकरण बन जाती है। मन शैतान से देव बनकर ऐसी नई सृष्टि कर देता है, जो स्वर्ग को भी लजा दे। दुष्प्रवृत्तियों को वह अग्नि विशेष भट्ठी में तपाकर, विकार, जलाकर, सत्प्रवृत्तियों के साँचे में ढालकर लोगों को सुखद आश्चर्य में डाल देती है। ऐसे ही अगणित चमत्कार करने में समर्थ अग्नि की यही विद्या 'यज्ञ विद्या' के रूप में ऋषियों द्वारा विकसित और प्रयुक्त की गई थी। ब्रह्मवर्चस् साधक को उसका लाभ मिले, इसका प्रयास दैनिक यज्ञ द्वारा किया कराया जाता है।

साधना काल में अनेक शक्तियाँ एवं अनुभूतियाँ जागती हैं और अनेक अनुदान प्राप्त होते हैं। उन्हें स्थायित्व देना और पुष्ट बनाना भी आवश्यक होता है। यह कार्य यज्ञ करता है। कहा गया है कि **'यज्ञं वै विष्णु'**। विष्णु देवत्व का पोषण करने वाले हैं। मनुष्य के अंदर जागा या गुरु-इष्ट अनुग्रह से प्राप्त देवत्व साधक की स्थायी संपत्ति बनाने में यज्ञ-प्रक्रिया का योगदान निर्विवाद एवं सुनिश्चित रूप से प्राप्त होता है।

योगी को जाग्रत्-जीवंत रहकर अपनी सारी क्रियाएँ एक ही उद्देश्य से संबद्ध रखनी होती हैं। सारी शक्तियाँ एक ही लक्ष्य की ओर नियोजित करनी होती हैं। यज्ञ में अनेक क्रियाएँ चलती हैं, किंतु वे सब सूत्रबद्ध तथा एक ही दिशा में नियोजित होती हैं। श्रद्धापूर्वक यज्ञ करते-करते साधक का सारा अंतरंग तंत्र उस अनुशासन में आबद्ध-अभ्यस्त हो जाता है। ऐसा होने पर उसका जीवन यज्ञमय होने लगता है। ऐसी स्थिति में साधक यज्ञ के वे सूक्ष्म प्रयोग करने में समर्थ हो जाता है, जिनका उल्लेख गीता के चतुर्थ अध्याय में किया गया है। जैसे ..... "कोई योगी इंद्रियों को संयम में होम देता है, कोई शब्दादि को इंद्रियों में, तो कोई संपूर्ण इंद्रिय एवं प्राण चेष्टाओं को ज्ञान से दीप्त आत्म योगाग्नि में होम देता है। कोई देव अनुगमन यज्ञ करते हैं, कोई यज्ञीय वृत्तियों को ही यज्ञ में होमते हैं—इत्यादि।" इस प्रकार के यज्ञ के अनेक सूक्ष्म प्रयोग 'यज्ञ' के प्रति निष्ठावान् साधक के लिए सहज हो जाते हैं।

उपर्युक्त और ऐसे ही अन्य अनेक कल्याणकारी यज्ञीय प्रतिक्रियाओं का लाभ उठाने की स्थिति तक साधकों को पहुँचाने के उद्देश्य से ब्रह्मवर्चस् योग-साधना में यज्ञ को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। नीति का मत है कि यह सृष्टि यज्ञ सहित रची गई है, यज्ञ से देवत्व और देवत्व से यज्ञ का विस्तार होता रहता है। साधकों को भी अंतरंग एवं बहिरंग क्षेत्र में नई सृष्टि खड़ी करनी होती है। अस्तु उन्हें भी यज्ञ की सनातन प्रक्रिया का सहारा लेना आवश्यक समझा गया है।

नित्यकर्म में धर्म-भावना का समावेश

जीवन के प्रत्येक अंग में, दिनचर्या के प्रत्येक क्रिया-कलाप में धर्म-भावना का समावेश भारतीय धर्म और संस्कृति की विशेषता है। धर्म-भावना से तात्पर्य जीवन के लिए ईश्वर के प्रति कृतज्ञता का, धन्यवाद का भाव है। उसमें व्यक्ति जीवन को ईश्वर का वरदान, अमूल्य उपहार मानकर चलता है। इस तथ्य का नित्य निरंतर स्मरण

बना रहे, इसके लिए भारतीय मनीषियों ने प्रातःकाल उठने से लेकर रात्रि को सोते समय तक प्रत्येक कार्य में ईश्वर का स्मरण, पवित्र भावनाओं का समावेश का विधान किया है। सुबह बिस्तर पर से उठकर बैठने, पलंग या बिस्तर से उठकर जमीन पर पैर रखने से लेकर शौच, मुखमार्जन, स्नान, भोजन आदि प्रत्येक आवश्यक क्रियाओं के पूर्व नियत पवित्र भावनाओं पर ध्यान केंद्रित करने का, उन्हें स्मरण करने का विधान है।

इसके पीछे भावना विज्ञान का सिद्धांत आधार रूप से स्थित है। जिस प्रकार की भावनाएँ मन-मस्तिष्क में उमड़ती-घुमड़ती रहती हैं, मनुष्य का व्यक्तित्व भी उसी के अनुरूप ढलता है। मन में यदि कलुषित, ईर्ष्या-द्वेष की अपवित्र और मलिन भावनाएँ हों, तो बाह्य आचरण भी उसी के अनुसार ढलते-बनते हैं। थोड़ी-बहुत देर के लिए सदाचारी होने या, सदाशयता जताने का ढोंग भले ही कोई कर ले, पर वास्तव में भीतर जो कुछ होता है, वह इस बाह्य आचरण से दबता-ढकता नहीं है। इसी प्रकार मन में यदि पवित्र भावनाएँ हों, तो वे भी लाख दूसरों के द्वारा झुठलाए जाने पर भी प्रकट, प्रभावित और व्यक्त होकर उभर आती हैं।

प्रातःकाल उठने से लेकर रात को सोते समय तक मनीषियों ने प्रत्येक क्रिया के पूर्व कुछ विशेष मंत्रों के पाठ स्मरण का विधान किया था और उनकी भावनाओं पर ध्यान केंद्रित करने का निर्देश दिया था। प्रातःकाल उठने, उठकर बिस्तर से जमीन पर पैर रखने, शौच स्नान करने, दंतधावन और मुखमार्जन करने, जलपान, भोजन आदि क्रिया-कलापों के समय दिन में कोई १५-२० बार इन भावनाओं का स्मरण किया जाता था। इससे पवित्र, उदात्त और आदर्श भावनाएँ नित्य-निरंतर मन में उत्पन्न होती रहती थीं।

अब जबकि भारतीय जीवन पद्धति के लगभग सभी विधि-नियम लुप्त हो चुके हैं, जो कुछ प्रचलित हैं भी सही, वे केवल चिह्नपूजा तक ही सीमित हैं। आवश्यकता इस बात की समझी गई है कि अपनी दिनचर्या में धर्म-भावनाओं का समावेश किया जाए और इसके लिए उठने, सोने, स्नान, भोजन करने तथा प्रातः काल सूर्य

प्रार्थना करने के रूप में पाँच बार पाँच आवश्यक कृत्यों में धर्म भावना का तो समावेश किया ही जाए, ब्रह्मवर्चस् की साधना प्रक्रिया में इन पाँच कर्मों का अनिवार्य समावेश किया गया है। इस साधना प्रक्रिया में प्राण-ऊर्जा के परिष्कार के साथ ही चिंतन क्षेत्र तथा भावना क्षेत्र का स्तर ऊँचा उठाने के लिए इन क्रियाओं का समावेश किया जाए। साधक के भावक्षेत्र में जीवन के यथार्थ स्वरूप के उत्कृष्ट उद्देश्य के प्रति आस्था जीवंत रहे, उसकी स्मृति सदैव बनी रहे, श्रद्धा-भावना प्रखर बने तथा सत्प्रवृत्तियों के उभार के उपयुक्त उत्साह निरंतर उमड़ता रहे, इस उद्देश्य से साधनाचर्या में नित्यकर्मों के समय भी आध्यात्मिक चिंतन, स्मरण एवं भावना का विधान है। ब्रह्मवर्चस् साधना प्रक्रिया में आरंभ किए गए इस अभ्यास को आगे भी अपनी सामान्य दिनचर्या में समाविष्ट रखा जाए, साधकों से यह अपेक्षा की जाती है।

इन प्रक्रियाओं को नित्य जीवनक्रम में समाविष्ट करने से साधक की आस्था दृढ़तर होती है और साधनात्मक मनोभूमि में तत्परता जाग्रत् रहती है, इसीलिए ब्रह्मवर्चस् साधना के निर्धारित क्रम में नित्यकर्मों के समय भी धर्म-भावना का समावेश—तदुपरांत शय्या-त्याग प्रातः कर्म करने के बाद स्नान और सूर्योपस्थान के समय भी धर्म-भावना का विधान है। इसी प्रकार भोजन के समय तथा रात्रि में शयन पूर्व धर्म-भावना आवश्यक है। साधक का उपासना काल ही नहीं, संपूर्ण दिनचर्या, संपूर्ण जीवन-विधि ही साधनामय होनी आवश्यक है। इसी तथ्य का स्मरण दिलाने वाली यह व्यवस्था है, जो पाँचों प्रधान नित्यकर्मों के समय की जानी चाहिए।

प्रातः स्मरण—मस्तिष्क और शरीर की हलचलें अंतःकरण में जड़ जमाकर बैठने वाली आस्थाओं की प्रेरणा पर अवलंबित रहती हैं। इसीलिए उत्कृष्टतावादी आस्थाओं का स्मरण प्रातः आँख खुलते ही किया जाना आवश्यक है नींद टूटने के बाद शय्या में ही आसन या पालथी मारकर बैठ जाना चाहिए।

भावना करनी चाहिए कि विश्वव्यापी प्राण-ऊर्जा का अंश आत्मसत्ता में आज नवीन स्फूर्ति भर रहा है, जो दिन भर के सक्रिय श्रेष्ठ, सात्त्विक जीवन का संबल सिद्ध होगा। इसके बाद श्रेष्ठ जीवनक्रम के मार्गदर्शक गुरु और चेतना की अधिष्ठात्री देवी गायत्री का वंदन एवं प्रातः स्मरण करना चाहिए। प्रातः स्मरण मंत्र आगे दिया गया है।

प्रातः स्मरण मंत्र के बाद आत्मबोध के चिंतन की साधना करनी चाहिए। इस चिंतन-मनन का उद्देश्य आस्थाओं को प्रभावित, परिष्कृत करना ही होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति में यह साधना, मंत्र की भावना बहुत ही उपयोगी सिद्ध होती है।

इस साधना के लिए यही सबसे उपयुक्त समय है। इस साधना में मुँह से कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं, पर यह मान्यता चित्त-मस्तिष्क में अधिकाधिक स्पष्टता के साथ जमाना चाहिए कि आज का एक दिन एक पूरे जीवन की तरह है। इसका श्रेष्ठतम सदुपयोग किया जाना चाहिए। समय का एक भी क्षण न तो व्यर्थ गँवाया जाना चाहिए और न निरर्थक कार्यों में लगाया जाना चाहिए। उसी समय विचार किया जाना चाहिए कि, "ईश्वर ने अन्य किसी जीवधारी को वे सुविधाएँ नहीं दीं जो मनुष्य को प्राप्त हैं। यह पक्षपात या उपहार नहीं, वरन् विशुद्ध अमानत है। जिसे उत्कृष्ट, आदर्शवादी रीति-नीति अपनाकर पूर्णता प्राप्त करने, स्वर्ग और मुक्ति का आनंद इसी जन्म में लेने के लिए दिया गया है। यह प्रयोजन तभी पूरा होता है, जब ईश्वर की इस सृष्टि को अधिक सुदृढ़, समुन्नत एवं सुसंस्कृत बनाने के लिए उपलब्ध जीवन संपदा का उपयोग किया जाए। इसी श्रेष्ठ उपयोग के लिए यह सुर-दुर्लभ अवसर मिला है। यह योजनाबद्ध सदुपयोग करने में ही ईश्वर की प्रसन्नता और जीवन की सार्थकता है।

इन शब्दों को मंत्रजाप की तरह दोहराने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि गंभीरतापूर्वक इस तथ्य को हृदयंगम किया जाना चाहिए। कल्पना चित्र सिनेमा फिल्म की तरह स्पष्ट उभरने चाहिए और उनके साथ इतनी गहरी आस्था का पुट होना चाहिए कि यह चिंतन,

वस्तुस्थिति बनकर मस्तिष्क को पूरी तरह आच्छादित कर ले। इसी समय पूरे दिन भर की दिनचर्या बना लेनी चाहिए। यों नित्यकर्म पूरे करते हुए भी दिन भर का समय विभाजन कर लेना कुछ कठिन नहीं है। ध्यान इस बात का रखा जाना चाहिए कि दिनचर्या का प्रत्येक कार्य फुरती और चुस्ती के साथ निपटाया जाए। सुस्ती और उदासी में ही समय का भारी अपव्यय होता है। योजनाबद्ध दिनचर्या बनाई जाए और उसका मुस्तैदी से पालन किया जाए, तो ढेरों समय बच सकता है। एक काम के साथ दो काम हो सकते हैं, जैसे आजीविका उपार्जन के बीच में खाली समय के वक्त स्वाध्याय तथा मित्रों से परामर्श हो सकता है। परिवार व्यवस्था में मनोरंजन का पुट हो सकता है। निद्रा, नित्यकर्म, जीविका उपार्जन, स्वाध्याय, उपासना, परिवार व्यवस्था, लोक मंगल आदि कार्यों में कौन, कब, किस प्रकार, कितना समय देगा, यह हर व्यक्ति की अपनी परिस्थिति पर निर्भर है, पर समन्वय इन सब बातों का रहना चाहिए, दृष्टिकोण यह रहना चाहिए कि आलस्य, प्रमाद में एक क्षण भी नष्ट न हो और सारी गतिविधियाँ इस प्रकार चलती रहें, जिनमें आत्मकल्याण, परिवार-निर्माण एवं लोकमंगल के तीनों तथ्यों का समुचित समावेश बना रहे। इन सारे क्रिया-कलापों में आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाया जाए। दुष्प्रवृत्तियों को, दुर्भावनाओं को स्थान न मिलने दिया जाए। जहाँ भी, जब भी गड़बड़ दिखाई पड़े, तब वहीं उसकी रोक-थाम की जाए और गिरते लड़खड़ाते कदमों को सँभाला जाय। इस प्रकार प्रातःकाल समय, श्रम, चिंतन, धन का तनिक-सा अंश भी अवांछनीय प्रयोजनों में नष्ट न किया जाए। इन चारों ही संपदाओं का एक-एक कण सदुपयोग में लगता रहे, इस तथ्य पर तीखी दृष्टि रखी जाए, तो उस दिन के उस जीवन को संतोषपूर्वक जिया जा सकता है।

भूमि वंदन—इस आत्मबोध चिंतन के बाद शय्या-त्याग से पूर्व पृथ्वी को हाथ से स्पर्श कर पृथ्वी माता को प्रणाम करते हुए पृथ्वी पर पैर रखना चाहिए। भूमि स्पर्श के समय इस अध्याय के अंत में दिए हुए मंत्र का उच्चारण करना चाहिए। उच्चारण जप की शैली में हो। अर्थात् होंठ हिलते रहें और मुँह से आवाज न निकले। बिना

होंठ हिलाए मन-ही-मन भी उच्चारण किया जा सकता है। मंत्र के साथ उसका भाव चिंतन भी करना चाहिए।

भूमिवंदन मंत्र में पृथ्वी की विशालता, गुरुता, सहिष्णुता जैसे गुणों का संकेत है। वह समुद्रवसना और पर्वतमंडिता है। हमारा गाँव, शहर, जिला या प्रांत ही पृथ्वी नहीं। इस विशाल पृथ्वी के विस्तार का अनुभव करते हुए हमें अपनी आत्मीयता की परिधि को विस्तृत बनाने और साथ ही स्वयं की सीमा समझकर सच्ची विनम्रता अपनाने की प्रेरणा मिलती है। उसकी गंभीरता, उदारता, सहनशीलता की सत्प्रवृत्तियों से भी तदनुरूप प्रेरणाएँ ग्रहण की जानी चाहिए।

स्नान—शय्या-त्याग के उपरांत शौचादि से निवृत्त होकर स्नान की क्रिया उत्पन्न की जाती है। ब्रह्मवर्चस् के साधक गंगा-स्नान करते हैं। साधना-स्थल गंगा के अति निकट है। जो साधक किसी दिन किसी कारण से गंगास्नान के लिए नहीं जा सकें, उन्हें कुएँ या नल के पानी से ही नहाना चाहिए। भूमितल में, सतह से थोड़े ही नीचे गंगा-प्रवाह से सीधे जुड़े हुए जल-स्रोत हैं। अतः इस क्षेत्र के जल-स्रोतों से भी गंगाजल ही प्राप्त होता है। स्नान की क्रिया में धर्म-भावना का समावेश का क्रम अपने घर पर भी जारी रखना चाहिए और भावना करनी चाहिए कि स्नान से शरीर-शुद्धि के साथ-साथ मनःशुद्धि भी हो रही है।

गंगाजल में स्नान के समय गंगा की पवित्रता, सुसंस्कारिता एवं आध्यात्मिकता का स्मरण कर साधक पुलकित हो उठता है। यह वही पवित्र दिव्य प्रभाव है, जो वर्षों और युगों से तपस्वी, योगी, महात्माओं, महामानवों, संतों, सत्पुरुषों की साधना एवं सिद्धि का साक्षी, प्रेरक तथा सहायक रहा है। भगवान् राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, परशुराम से लेकर वसिष्ठ, विश्वामित्र, अत्रि, भारद्वाज, याज्ञवल्क्य, जमदग्नि, अरुंधती, जैसे हजारों मूर्द्धन्य ऋषि-ऋषिकाओं ने जिसकी गोद में बैठकर साधना की, वही पयस्विनी हमें भी उन श्रेष्ठ संस्कारों का पान करा रही है, सत्प्रवृत्तियों को पुष्ट कर रही है। यह भावना साधक की सात्त्विकता की वृद्धि एवं पुष्टि करती है।

जहाँ गंगाजल नहीं भी उपलब्ध हो, वहाँ भी भाव-गंगा तो उपस्थित हो ही सकती है। अतः स्नान के समय स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर को प्रबल, प्रखर एवं पवित्र बनाने वाली माँ गंगा का स्मरण करना नित्यकर्म का ही अंग है। दूसरे श्लोक में इस पुण्यभूमि भारतवर्ष की सात प्रमुख पवित्र नदियों का स्मरण करना स्वयं को भारतभूमि की सांस्कृतिक चेतना एवं आध्यात्मिक परंपरा से जोड़ने का प्रयास है।

भारतीय संस्कृति की प्राणवान् धाराओं की प्रतीक इन सातों प्रमुख पवित्र नदियों का स्मरण भावप्रवण साधक के मन में ब्रह्मविद्या और ब्रह्मतेज की आर्ष परंपरा की उस स्मृति को उद्दीप्त करता है, जब इनके तट पर आरण्यकों-आश्रमों-तीर्थों का संचालन करने वाले तत्त्वचिंतक, तत्त्वद्रष्टा मनीषी साधना करते थे और लोक-कल्याण के लिए विचारों, शास्त्रों तथा सामाजिक संस्कारों, व्यवस्थाओं की रचना करते थे। उस परंपरा का ऋण भी हम सब पर है। इन सातों पवित्र नदियों के स्मरण में उस ऋषि ऋण का भी स्मरण हो आना स्वाभाविक है।

सूर्योपस्थान—प्रातः स्मरण, आत्मबोध चिंतन और स्नान के बाद सूर्योपस्थान का विधान है। यह अपनी प्रातःकालीन उपासना के बाद करना चाहिए। सूर्योपस्थान का अर्थ है, सूर्य के सम्मुख उपस्थित होना। इस नित्यकर्म में साधक को स्नानादि से निवृत होने के बाद सूर्याभिमुख होकर, खड़े होकर दोनों हाथ ऊपर उठाकर हथेलियों को सूर्य के सामने की ओर रखते हुए सूर्य देवता का स्तवन किया जाता है। हाथ इस प्रकार ऊपर उठाए जाते हैं कि कुहनियों से बीच में मुड़े रहें और हथेलियाँ छाती से ज्यादा ऊपर न उठें। गायत्री का देवता सविता है और सूर्य उसका प्रतिनिधि है। पृथ्वी और उस पर निवास करने वाले समस्त प्राणियों का सूर्य से घनिष्ठ संबंध है। सूर्य से ही यह सारा संसार प्रकाशित होता है।

गायत्री उपासना में निराकार साधक सूर्य के अरुणाभ ज्योति-पिंड का ही ध्यान करते हैं। नित्यकर्म में सूर्योपस्थान का अलग से विधान करने का तात्पर्य है, समस्त जगत् के प्रकाशक सूर्य

देवता को परमात्मा का प्रतिनिधि मानना और स्वयं के जीवन को तेजस्वी, मनस्वी तथा प्रकाशवान् बनाना। आध्यात्मिक अर्थों में प्राण को सूर्य कहा गया है। ब्रह्मवर्चस् साधना में भी उपासनात्मक इष्टदेव सविता रखा गया है। कलेवर की प्रतीक-पूजा नारी के रूप में, गायत्री माता के ध्यान के साथ उच्चस्तरीय ध्यान में भी प्राण की स्थापना करनी पड़ेगी। गायत्री का प्राण सविता है। शरीर को देख लेने के बाद किसी की वस्तु स्थिति उसके आंतरिक स्तर को समझने से ही विदित होती है। सूर्योपस्थान सविता संपर्क के लिए आगे कदम बढ़ाने की ही प्रक्रिया है।

प्राणशक्ति और भाव चेतना को जहाँ तक प्रखर-तेजस्वी बनाने के लिए नित्यकर्मों का विधान है, उसमें चौथा उपक्रम भोजन से पूर्व भगवान् को स्मरण करने का है, यों प्रत्येक परिवार में भगवान् को भोजन समर्पित कर खाने के लिए बलिवैश्वदेव का अलग से विधान है, लेकिन वह प्रक्रिया सामूहिक है। व्यक्तिगत रूप से भी अपने दैनंदिन जीवन में धर्म-भावना का समावेश करने के लिए दोनों समय से पूर्व स्मरण का नियम बनाना चाहिए। 'ब्रह्मवर्चस्' साधना मंत्रों में जो भोजन किया जाता है, वह वैसे भी परम सात्त्विक, हविष्यान्न और साधकों के उपयुक्त उनकी आत्मिक प्रगति में सहायक होता है। भोजन करते समय यह भाव होना चाहिए कि हम परमात्मा के प्रसाद रूप में भोजन को ग्रहण कर रहे हैं। उस भोजन से केवल स्थूल शरीर की ही नहीं, सूक्ष्म और कारण शरीर की भी पुष्टि हो रही है। इस अध्याय के अंत में दिए गए मंत्र को जप की तरह पढ़कर भोजन करने की प्रक्रिया में मोटी दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व दिखाई नहीं पड़ता, न उसे करने में कोई बड़ा लाभ होता प्रतीत होता है। परंतु यदि बारीकी से देखा जाए, तो यह क्रिया छोटी होने पर भी इसके पीछे निहित प्रेरणाएँ और भावनाएँ अति महान् हैं।

प्रश्न कृत्यों का नहीं, उनके पीछे निहित भावनाओं का, आस्थाओं की प्रतिष्ठापना का है। धर्मकृत्य तो इसके प्रतीक मात्र हैं। इसलिए इनका नाम भी प्रतीक पूजा है। प्रतीक अर्थात् प्रतिनिधि। देवताओं की आकृतियाँ एवं प्रतिमाएँ आँख से देखने पर

कौतुक-कुतुहल जैसी लगती हैं। पर उनके पीछे श्रद्धा को जगाने और बढ़ाने वाले जो तत्त्व जुड़े हुए हैं, उन्हीं को प्रेरणा-प्रतिष्ठा कहा गया है।

प्रातःकाल जिस प्रकार सूर्योपस्थान किया जाता है, उसी प्रकार संध्या समय सूर्यास्त होने के बाद दीप स्तुति की जानी चाहिए। सुबह सूर्योपस्थान और संध्या समय दीपस्तुति अपने अंतः प्रकाश को उद्घाटित करने की ही प्रेरणा-भावना का द्योतक है। अपने भीतर का विवेक यदि जाग्रत् हो सके, तो फिर कहीं कोई पाप-दुष्कर्म होने की संभावना नहीं रह जाती। प्रकाश की उपस्थिति में जिस प्रकार अंधकार दूर भाग जाता है, उसी प्रकार अंतः प्रकाश आंतरिक विवेक, प्रज्ञा की ज्योति उपलब्ध हो जाने पर पाप तथा दुष्कर्मों की जड़ें नष्ट हो जाती हैं। यह भावना करते हुए अपने विवेक को सदैव जाग्रत् रखना चाहिए।

इन पाँच क्रियाओं के बाद रात को सोते समय ईश्वर का स्मरण करते हुए निद्रा की गोदी में जाना चाहिए। उस समय तत्त्वबोध का, "हर दिन नया जन्म, हर रात नई मौत" के मंत्र के उत्तरार्द्ध का चिंतन करना चाहिए। प्रातः जल्दी उठने और रात को जल्दी सोने का नियम तथा दिनचर्या में नियमितता का समावेश हो जाए, तो बहुत-सी व्यर्थ की उलझनों से समय बच जाता है और अनावश्यक कार्यों में समय लगने का झंझट भी नहीं खड़ा होता। उस समय प्रातः बनाई गई दिनचर्या, नियत कार्यक्रम के संदर्भ में यह आत्मनिरीक्षण करना चाहिए कि उसका कड़ाई के साथ पालन किया गया अथवा नहीं।

रात्रि को सोते समय वैराग्य एवं सन्यास जैसी स्थिति बनानी चाहिए। बिस्तर पर जाते ही यह सोचना चाहिए कि निद्राकाल एक प्रकार की मृत्यु-विश्राम है। आज का नाटक समाप्त, कल दूसरा खेल खेलना है। परिवार ईश्वर का उद्यान है, उसमें अपने को कर्तव्यनिष्ठ माली की भूमिका निभानी थी। शरीर एवं मन, ईश्वरीय प्रयोजनों को पूरा करने के लिए मिले जीवन-रथ के दो पहिये हैं, इन्हें सही राह पर चलाना था। धन, प्रभाव, पद ये विशुद्ध धरोहर हैं, उन्हें सत्प्रयोजनों में ही लगाना था। देखना चाहिए कि वैसा ही हुआ है या नहीं? जहाँ

गड़बड़ी हुई दिखाई दे, वहाँ पश्चात्ताप करना चाहिए और अगले दिन वैसी भूल न होने देने में कड़ी सतर्कता बरतने की अपने आप को चेतावनी देनी चाहिए।

संन्यासी अपना सब कुछ ईश्वर को अर्पण करके परमार्थ-प्रयोजनों में लगता है। सोते समय साधक की वैसी ही मनः-स्थिति होनी चाहिए। मिली हुई अमानतें और सौंपी हुई जिम्मेदारियाँ आज ईमानदारी के साथ सँभाली गई। यदि कल वे फिर मिलीं, तो फिर उन्हें ईश्वरीय आदेश मानकर सँभाला जाएगा। अपना स्वामित्व किसी भी व्यक्ति या पदार्थ पर नहीं। जो कुछ है सो सब ईश्वर का है। अपना तो यहाँ बस कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व भर है। उसे पूर्ण सतर्कता और पूरी तत्परता से निभाते भर रहना अपने लिए पर्याप्त है। परिणाम क्या होते हैं, क्या नहीं—यह परिस्थितियों पर निर्भर है। अस्तु, सफलता की चिंता न करते हुए हमें आदर्शवादी कर्तव्यपरायणता अपनाए रहने मात्र में पूरा-पूरा संतोष अनुभव करना चाहिए।

सोते समय ईश्वर की अमानतें ईश्वर को सौंपने और स्वयं खाली हाथ प्रसन्न चित्त विदा होने की—निद्रादेवी की गोद में जाने की बात सोचनी चाहिए। हलके मन से शांतिपूर्वक गहरी नींद में सो जाना चाहिए। चिंता, आशंका, खीज, क्रोध जैसी किसी भी उद्विग्नता को मन पर लादकर नहीं सोना चाहिए। यह प्रयत्न शांत निद्रा लगने की दृष्टि से भी उपयोगी है, साथ ही आत्मपरिष्कार की दृष्टि से भी अति महत्त्वपूर्ण है।

मृत्यु को भूलने से ही जीवन संपदा को निरर्थक कामों में गँवाते रहने की चूक होती है, दुष्कर्म बन पड़ते हैं और वासना, तृष्णा, अहंता की क्षुद्रताओं में समय गुजरता है। यदि यह ध्यान बना रहे कि मृत्यु का निमंत्रण कभी भी सामने आ सकता है तो ध्यान बना रहेगा कि इस महान् अवसर का सही उपयोग किया जाए और पूरा लाभ उठाया जाए, तो निद्रा की तुलना मृत्यु से करते रहने पर मौत का डर मन से निकल जाता है और अलभ्य अवसर के सहयोग की बात चित्त पर छाई रहती है।

प्रातः काल उठने से लेकर रात्रि को सोने तक प्रातः स्मरण, पवित्र स्नान, सूर्योपस्थान, भोजन और रात्रि को तत्त्व बोध आत्मचिंतन का क्रम अपने आप में एक परिपूर्ण जीवन साधना है। यदि इन कृत्यों को भावना और श्रद्धा-निष्ठा के साथ संपन्न किया जाता रहे, तो जीवन-क्रम में शुभ और सात्त्विक परिवर्तन होना अवश्यंभावी है। इस परिवर्तन का परिणाम जीवन में सुख-शांति की सृष्टि और आनंद-उल्लास की वृद्धि के रूप में अनिवार्य रूप से होते हुए देखा जा सकता है।

इन पाँचों क्रियाओं का स्वरूप और उनमें प्रयुक्त होने वाले नेत्र यहाँ दिए जा रहे हैं—

(१) **प्रातः स्मरण**—उठते ही हथेलियाँ परस्पर रगड़कर उन्हें देखें। फिर हाथ जोड़कर नीचे लिखे मंत्रों से भावपूर्वक वंदना करें।

(क) **प्रातः स्मरामि खलु तत्सवितुर्वरेण्यं,**
रूपं हि मण्डलमृचोऽथतनुर्यजूंषि।
सामानि यस्य किरणा प्रभवादि हेतु,
ब्रह्माहरात्मकलक्ष्यमचिंत्यरूपम्॥
आत्मात्वम् गिरिजापतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम्,
पूजा ते विषयोपभोगरचना, निद्रा समाधिस्थितिः।
संचारः पदयोःप्रदक्षिणविधिः स्तोत्राः सर्वागिरो,
यद् यद् कर्म करोमि तत्तदखिलं शंभोतवाराधनम्॥

मंत्रपाठ के बाद आत्मबोध चिंतन करें। चिंतन के पश्चात् भूमि पर पैर रखने के पूर्व हाथ से भूमि स्पर्श करके पृथ्वी की वंदना करें—

(२) **समुद्रवसने देवि पर्वतस्तन मंडले।**
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शक्षमस्व मे॥

(३) **स्नान**—स्नान के पूर्व पुण्य नदियों का आह्वान स्मरण करते हुए प्रथम मंत्र और स्नान करते हुए दूसरा मंत्र बोला जाए।

(क) **गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।**
नर्मदे सिंधु कावेरि, जलेऽस्मिनसन्निधिं कुरु॥

(ख) नमामि गंगे तव पादपंकजं, सुरासुरैर्वन्दिति दिव्यरूपम्॥
भुक्तिं च मुक्तिं च ददासिनित्यं भावानुसारेण सदानतोऽहम्॥

(४) सूर्योपस्थान—यह सूर्योदय के समय किया जाता है। उपासना के बाद सूर्यार्घ्य दान के साथ इसे किया जा सकता है।

ॐ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम॥
शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम।
शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥

(५) भोजन—भोजन परोसा जाने पर गायत्री मंत्र मन में या सस्वर बोलें, फिर नीचे लिखा मंत्र बोलकर भोजन प्रारंभ करें—

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

(६) दीप स्तुति—संध्या वेला में जब प्रथम दीप जले या प्रथम दीप दर्शन हो तब यह मंत्र बोलें।

शिवंभवतु कल्याणं, आरोग्यं सुखसंपदा।
मम बुद्धिप्रकाशाय, दीपोज्योतिर्नमोऽस्तुते॥

(७) तत्त्व बोध—जब शयन के लिए बिस्तर पर पहुँच जाएँ, तब सीधे बैठकर प्रभु स्मरण करें, नीचे लिखा मंत्र बोलें और उसके भाव को हृदयंगम करें—

ॐ वायुरनिलममृत-मथेदं भस्मातं शरीरम् ॐ क्रतो स्मर-क्रतं स्मर क्रतो स्मरः क्रतं स्मरः॥

इसके बाद तत्त्व बोध की मनन साधना करते हुए निद्रा की गोद में प्रवेश करें।

इस प्रकार प्रातःकाल से सायंकाल तक प्रमुख कार्यों में धर्म-भावना ईश्वर को जोड़ने का यह छोटा-सा अभ्यास आगे चलकर बड़ा लाभदायक-वरदायक बन जाता है। गीता में लिखा है—

युक्ताहार विहारस्य, युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य, योगोऽभवति दुःखहा॥

अर्थात्—युक्तआहार, युक्तविहार युक्तचेष्टा, युक्तकर्म युक्तशयन, युक्तजागरण का योग दुःखनाशक होता है। युक्त का अर्थ है, जुड़ा हुआ। इस साधना द्वारा साधक के चिंतन चेष्टा कर्म, विश्राम सभी जब ईश्वर अनुशासन से धर्म-भावना से युक्त होने लगते हैं, तो वह उस अवस्था में सहज स्थिर हो जाता है, जिसके बारे में गीताकार ने कहा है **'नैनं प्राप्य विमुह्यति'** अर्थात् उसे पाकर फिर व्यक्ति वापस नहीं होता। अस्तु, यह सुगम और प्रभावशाली साधना ब्रह्मवर्चस् साधना के साधक को पूरी तत्परता से अपनानी चाहिए।

◆

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा